प्रयोगधर्मी नाटककार

जगदीशचन्द्र माथुर

परमादरणीय डॉ० कुन्तल मेघ
को सादर

—मीनाक्षी काला

प्रयोगधर्मी नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर

मीनाक्षी काला

शारदा प्रकाशन
• ३३/१, भूलभुलैया रोड, महरौली, नई दिल्ली-११००३०
• १६/एफ-३, असारी रोड, दरियागज, नई दिल्ली-११०००२

अपनी बात

साहित्यिक स्रोतस्विनी नदियो मे अविरल बहती मनुष्य के रिक्त एव जिज्ञासु मन की पिपासा को सिक्त करती चली आ रही है। इसकी विभिन्न धाराए, विभिन्न स्वाद समोये साहित्यिक मन का रसास्वादन करने मे अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देती हुई निरन्तर अपने पथ पर अग्रसरित होती रही हैं। नाटक विधा अपनी प्राचीनता लिए पाठको एव दर्शको की तृप्ति का विशेष साधन बन, उनके मन-मस्तिष्क के सिंहासन पर पदासीन हो जनसाधारण के हृदयसागर को बिलोती हुई तथा साहित्यिको को विभिन्न धाराओ के प्रयोगो के लिए प्रेरित करती चली आ रही है। यह प्रयोग काव्य-नाटक, नाट्य-काव्य, दृश्य-काव्य, श्रव्य-काव्य और फिर दृश्य और श्रव्य नाटक के रूप मे हमारे सम्मुख आते गए।

नाटक साहित्य के लक्ष्यो एव विस्तृत ऐतिहासिक फलक पर सन् १६२६ मे एक धूमिल-सा सितारा आया और अपनी निरन्तर साधना एव मूल्य प्रधान मानववादी विचारधाराओ के रोशनी पुजो के प्रकाश से प्रभावित होते हुए लुप्त प्राय ऐतिहासिक, पौराणिक तथ्यो को झकझोरता परन्तु साहित्यिक फलक के अधेरे कोने मे उपेक्षित-सा जगमगाता रहा। यह था – जगदीशचन्द्र माथुर, जो साहित्य की नाटक विधा पर इतना काम करने के बाद भी विद्वान आलोचको की दृष्टि से ओझल प्राय रहा। अभी एक मात्र अनुबध जा बाद मे पुस्तकाकार के रूप मे आया वह प्रोफेसर इन्द्रसिंह रिवाना द्वारा लिखा हुआ—'जगदीशचन्द्र माथुर—व्यक्तित्व एव कृतित्व"। परन्तु वह भी "आमुख' मे अपनी सीमाए स्वीकार करते हुए, पूर्णत इस नाटककार की कृतियो पर विचार कर पाने मे अपनी असमर्थता व्यक्त करते है। जिन नाटको का मूल्याकन उन्होने अपनी पुस्तक (अनुबध) म किया है, उन रचनाओ का तिथिक्रम (प्रकाशन का) भी वह नहीं द पाए। 'कोणार्क' का वह १६५४ की रचना मानते हैं जबकि वह १६५१ म लिखा जा चुका था।

इसी तरह "शारदीया" और "कुवरसिंह की टेव" की प्रकाशन तिथि वह १९५५ मानते हैं। इनके बीच "गगन सवारी" माथुर जी लिख चुके थे। सभवत यह कृति प्रो० टिवाना को नही मिली और उन्होंने रचनाओं की ११-१२ पृष्ठो पर दो लम्बी सूची (प्रकाशन तिथियो सहित) मे चर्चा पर यानि नाम का उल्लेख मात्र किया है, उसकी तिथि वगैरह का पता लगाना भी शायद उनकी सीमा से बाहर था। १९७३ मे उन्होंने अपने अनुबध को परिवर्द्धित एव परिष्कृत रूप मे प्रकाशित करवाया तथा तब तक तो "पहला राजा" और "दशरथनन्दन" भी प्रकाशित हो चुके थे। उन्होंने पता निकालने का प्रयत्न ही नहीं किया या फिर मात्र पुस्तक निकालने की धुन ने पता नही करने दिया। प्रकाशन की तिथिया तक वह ठीक नही कर पाए। परिष्कृत एव परिवर्द्धित रूप तो लगता है मात्र उन्होंने औपचारिकतावश लिख दिया। जगदीशचद्र माथुर पर ही काम करने वाला दूसरा नाम आता है—श्री गोविंद चातक का। उनकी पुस्तक "नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर" १९७३ मे प्रकाशित हुई। "दो शब्द" शीर्षक मे वह भी माथुर पर अन्य कोई पुस्तक न होने की कमी को दोहराते हैं और यह भी कहते हैं कि जान-बूझकर यह पुस्तक सक्षेप मे लिखी गई है। पता नही ऐसा क्यो लिखा श्री चातक ने। सभवत उन्हे भी पुस्तक निकालने की धुन ने चैन से लिखने नही दिया। उन्होंने भी मात्र "कोणार्क", "शारदीया" और "पहला राजा" तीन ही नाटको की चर्चा की है और वह भी परपरागत मापदडो के आधार पर। कोई भी निजी स्थापना या स्वतत्र चिन्तन उन्होंने इस पुस्तक मे नही किया। वही कथानक, चरित्र-सृष्टि, सवाद और रसानुभूति की कसौटी पर इन नाटको को घिसे-पिटे ढग से परख-कर रख दिया—एक अहसान की तरह। इससे उन्हे मानसिक सतोष भी हुआ होगा क्योकि माथुर पर कोई पुस्तक न होने का अभाव उन्हें लग रहा था। यहा तक तो ठीक था—किसी साहित्यकार लेखक पर, जो इस योग्य हो काम तो होना ही चाहिए, परन्तु एकागी मूल्याकन या मात्र अभावपूर्ति की प्रशसा हेतु चर्चा करना रचनाकार से अन्याय ही होगा।

यह सब कहने का हमारा अभिप्राय किसी को नीचा दिखाने का नही, मात्र यह कहने का है कि इस तरह के मूल्याकनो से रचना का सही रूप निखर कर सामने नही आता। यह तो बस रचनाओ का गला दबाने की प्रक्रिया ही बन जाती है। एक रचनाकार के लिए इससे दुर्भाग्यपूर्ण

स्थिति क्या हो सकती है कि उसकी रचनाएं अनाथ शिशु की मानिंद प्रत्येक आगन्तुक/पथिक की ममताभरी एक मुस्कान के लिए व्याकुल रहे।

हमने अपने प्रस्तुत विषय में श्री जगदीशचन्द्र माथुर के नाटको मे विविध प्रयोगो पर कहने का प्रयत्न-भर किया है। हमारा यह दावा कदापि नही कि जो कुछ हमने कहा वह सर्वमान्य हो—हमने तो मात्र एक सुलगती हुई चिंगारी को हवा देने का प्रयास किया है। उनका मूल्यांकन तो विद्वानो के हाथो की ओर अपने नन्हे-नन्हे हाथ फैलाए, गोद मे लिपट जाने की उत्सुकता से बिटर-बिटर देख रहा है। उनके नाटको पर पूर्णत मूल्यांकन करने का दावा भी हम नही कर रहे। बस नन्हे बच्चे को अंगुली से चलाने अर्थात् उनके एक पक्ष को छुआ भर है अर्थात् जगदीश चन्द्र माथुर के नाटको मे विविध प्रयोगो पर दृष्टिपात किया है। इस सम्बन्ध मे हम और कुछ न कहकर यह बात विद्वानो और अन्य पाठको पर छोड़ते हैं कि हमारा प्रयास कैसा रहा ? अंत मे हम श्रीमती जगदीश चन्द्र माथुर और उनके सुपुत्रो द्वारा दिए अनुपलब्ध साहित्य-पुस्तकें व लेख तथा अनौपचारिक व्यवहार से बधा साहस भूल कृतघ्न नही होना चाहते।

हम आभारी हैं डॉ० दशरथ ओझा, श्री नेमिचन्द्र जैन, डॉ० सुरेश अवस्थी, इन्दुजा अवस्थी और श्री बजाज के साथ लिए साक्षात्कार के जिनसे हमे अपने विषय को आसानी से निबाह ले जाने मे सहायता दी। नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा और केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के पुस्तकालयो के पदाधिकारियों के प्रति भी हम आभार प्रदर्शित करना चाहगे जिन्होंने पुस्तकालय म बैठ काम करने की अनुमति ही नही दी अपितु श्री माथुर पर उपयुक्त सामग्री व पत्रिकाओ इत्यादि की जानकारी भी दी।

सभी का आभार प्रदर्शित करते हुए हम प्रोफेसर ओम अवस्थी जी को कैसे भूल सकते है जिन्होने इस विषय पर लिखने की प्रेरणा दी।

सोनी निवास,
गाव व पोस्ट मजीठा,
जिला अमृतसर (पंजाब)

—मीनाक्षी काला

विषयानुक्रमणिका

१

प्रयोग की विवेचना

साहित्य मे नवीन प्रयोग होते आए है और हर युग का साहित्य अपने पूर्ववर्ती युग के साहित्य से कुछ अर्थों म भिन्न होने के कारण नवीन भी होता है। वास्तव मे प्रयोग वह साधन है जिसके द्वारा लेखक अपने पूर्व की समस्त ग्राह्य परम्परा को स्वीकार करता हुआ भी पूर्ववर्ती लेखन से अपने को भिन्न रखता है तथा उसमे नवीनता का पुट देता है। इससे कोई भी महान् लेखक पूर्ववर्ती लेखन-परम्परा से एकदम विच्छिन्न नही होता क्योंकि परम्परा कोई स्थिर वस्तु नही है, वह सतत गतिमान और विकासमान रहती है। उसका यही परिवर्तन ही उसमे नवीनता का आकर्षण उत्पन्न करता है। अत कला या साहित्य मे नवीनता का आकर्षण उत्पन्न करने के लिए ही प्रयोग किए जाते हैं। इस प्रकार प्रयोग साधन बन जाता है, साध्य नही। अर्थात् जहा भी मानवीय योजना तथा नया निर्माण करने की भावना कार्य करती है वही प्रयोग का चमत्कार दृष्टिगोचर होता है, चाहे वह काव्य का क्षेत्र हो या नाटक का, सगीत का क्षेत्र हो या विज्ञान का। भाषा का विकासशील स्वभाव ही अपने प्रत्येक उपयोग म परिवर्तन लाने को बाध्य है। साहित्य में प्रयोग की विवेचना के लिए प्रयोग के अर्थ, कोश ग्रथ एव विचारकों की धारणाओ के आधार पर ही हम उसके मूल तत्वो की गवेषणा करेंगे।

१ प्रयोग शब्दार्थ

प्रयोग की प्रवृत्ति है अन्वेषण की। जिसे दूसरे अपनी खोज से परे मानकर छोड देते हैं, उसे खोज निकालने मे प्रयोगवादी लेखक लगा रहता है। प्रयोग उसकी ओर बढ़ता है जो अज्ञात है। वह व्यक्ति की अनुभूति की प्रमुखता मानते हुए समष्टि की पूर्णता तक पहुचाने का प्रयास करता है। इस प्रकार का लेखक नए विषय को अभिव्यक्त करने का माध्यम भी नया ही मानता है। अत प्रयोग नवी-

नता को महत्त्व देता है। इसके नियम बड़े कठोर हैं, इसलिए बहुत कम लेखक इस को अपनाते हैं। सभी के वश की यह बात नही है।

"प्रयोग" का शाब्दिक अर्थ "योग करना" या मिलाना है क्योंकि "प्र" उपसर्ग "युज्" धातु से भावकमादि मे "घ्" प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय "युज्" के अपने ही अर्थ मे होता है। "युज्" धातु का अर्थ है "योग"। जैसे अतीत की परपरा वर्तमान से समृद्ध होती है, उसी सन्दर्भ मे उपलब्ध अर्थ को और भी सम्पन्न कर भविष्य को प्रदान करने मे "प्रयोग" की सफलता है। "मानविकी पारिभाषिक कोश" मे प्रयोग के तीन शब्दार्थ हैं—"प्रयोग, प्रयोगात्मक, प्रयोगवाद"। मानक हिन्दी कोश मे लिखा है—' किसी बात या चीज को आवश्यकता अथवा अभ्यासवश काम मे लाना, इस्तेमाल, व्यवहार। साहित्य मे रूपकों आदि का अभिनय, विभिन्न दायरे मे विभिन्न अर्थ प्रयुक्त होते हैं जैसे तत्रशास्त्र, वैद्यक, व्याकरण, तर्कशास्त्र मे विज्ञान।" "हिन्दी शब्दसागर" मे प्रयोग का अर्थ इस प्रकार मिलता है—"आयोजन, अनुष्ठान, साधन, किसी कार्य मे योग, किसी काम मे लगना, जैसे शब्द का प्रयोग करना।" "वृहत हिन्दी कोश" के अनुसार, "नाटक का खेला जाना, अभिनय—भाषा, विषय, भाव, छन्द आदि सबधी पुरानी परम्परा के विरोधी नए-नए प्रयोग करते रहने की साहित्यिक, कवियो की प्रवृत्ति जिसकी तह मे पाठको को चौंका देने की लालसा भी, अज्ञात रूप मे विद्यमान रहती है।" "वैज्ञानिक पारिभाषिक कोश" म "प्रयोग" की विवेचना इस तरह मिलती है,—"साहित्यिक क्षेत्र मे, साहित्यिक परम्पराओं का निर्वाह किन्तु गतिरोध उत्पन्न करने वाली रूढियो का परित्याग करते हुए नए-नए प्रयोगो द्वारा साहित्य-सर्जना करना।" इस के अतिरिक्त अन्य अनुष्ठान, व्यवहार, इस्तेमाल। प्रयोगातिशय —नाटक मे प्रस्तावना का एक भेद जिसमे प्रयोग करते हुए आपसे आप दूसरे ही प्रकार का प्रयोग, कौशल से हो जाता है या हुआ दिखाया जाए और उसी प्रयोग का आश्रय करके पात्र प्रवेश करे।" भार्गव आदर्श हिन्दी शब्दकोश मे भी इसी प्रकार की शाब्दिक विवेचना उपलब्ध होती है। सर एम० मोनियर विलियम्स ने सस्कृत आग्ल कोश मे लिखा है—"प्रयोग एक साथ मिलाना, सबध, आस्था व शब्द योग को कहते हैं।" प्रयोग की लोक प्रचलित अर्थवत्ता, अग्रेजी 'यूसेज" के सामान्य अर्थ "मैनर ऑव यूजिंग और बीइन्ड यूज्ड" के समकक्ष है।" प्रथमत प्रयोग का अर्थ व्यवस्थित, क्रमिक और ठीक ढग से काम करने की विधि या क्रिया है। डॉ० रघुवीर ने प्रयोग को सपरीक्षा कहा है जबकि हरदेव बाहरी ने प्रयोग के अर्थों का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—"सपरीक्षण, परीक्षा, प्रयोग, परीक्षण की प्रक्रिया, परीक्षा, जाच, परख एव इम्तिहान।"

इस प्रकार कोशगत अर्थों को देखने से यह स्पष्ट हुआ है कि "प्रयोग" शब्द का व्यवहार प्राचीन काल से धर्मग्रथों तथा काव्य, नाटक आदि साहित्य मे अधिक

हुआ है अत. प्रयोग का उद्देश्य है--सत्य का परीक्षण करना तथा उसके द्वारा प्राप्त सत्य के नए आयामो का अन्वेषण।

पश्चिम मे भी प्रयोग और प्रयोगशील शब्दो का व्यवहार व्यापक अर्थ मे किया जाता है। अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध प्रयोगशील लेखक फिलिप टायनबी ने लिखा है कि "यूरोप के कुछ स्थानों मे ऐसी पुस्तकें, जिनमे वाक्य सीधे नही बल्कि ऊपर से नीचे की ओर छपे हों या जिनकी विभिन्न रगो मे छपाई हुई हो, आज भी साहसपूर्ण तथा मनोरंजक प्रयोग के रूप मे स्वीकार की जाती हैं, चाहे उनका वस्तुतत्त्व घिसा-पिटा और अनुकृत ही क्यों न हो।" अत इस प्रकार के प्रयोग साहित्य के केवल बाह्य रूप से सबध रखते हैं, उसकी आत्मा से नही। अंग्रेजी के आलोचक एच० वी० रूथ के अनुसार, "कला को सदैव नवीन स्वरूप देते रहना चाहिए—किसी महान पुस्तक मे नवीनता द्वारा चकित कर देने की शक्ति होनी चाहिए ताकि पाठक प्रारम्भ से ही आगे पढने के लिए उत्सुक हो जाए और उसे विश्वास हो जाए कि अनुभूतिया व्यापक और गभीर छवियो के निर्माण तथा कार-यित्री प्रतिभा की क्रीडा की सामग्री मात्र हैं।" वास्तव मे आज का साहित्यकार प्रयोग इसलिए करता है क्योंकि उसका विश्वास है कि उसने हमारी वर्तमान स्थिति के सबध मे कुछ ऐसे सत्यो को तलाश लिया है जिनकी अभिव्यक्ति अब तक अन्य किसी ने नही की है। श्री जे० डी० बेसफोर्ड ने कहा है कि "यदि साहित्य को एक समर्थ शक्ति बनाना है तो हम इसे विकास का अवकाश देना ही होगा। लग-भग सभी महान लेखक प्रयोगशीलता से ही आरभ करते हैं।" श्री एडिथ सिटवैल कहते हैं कि "साहित्यकार को भाषा मे कुछ ताजगी, शिल्प मे कुछ नूतनता, स्वर और दृश्य जगत की कुछ नई खोज उपस्थित करनी चाहिए, अन्यथा वह केवल अतीत की प्रतिध्वनि मात्र है और उसे महान साहित्यकारो की श्रेणी मे स्थान नही मिल सकता।" इस तरह प्रयोगो के पीछे काम करने वाले उद्देश्य और प्रयोगकर्ता का उत्तरदायित्व-निर्वाह ही वह कसौटी है जिस पर उसके प्रयोगो की परीक्षा की जा सकती है।

उपर्युक्त दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास के आधुनिक काल की तरफ देखें तो कह सकते हैं कि भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त तथा प्रसाद ने लीक से हटकर प्रयोगशीलता की अभिव्यक्ति की है और उसी के आधार पर इसका नामकरण हुआ। नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी छायावाद के कवियो की विद्रोहजन्य प्रयोगशील प्रवृत्ति की महत्ता स्वीकार की है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है—"प्रयोग शब्द ऐसे साहित्य, रूप, शैली, भाव और विषयवस्तु के अर्थ मे प्रयुक्त होता है जो नवीन उद्भावित हो और पूर्ववर्ती लेखको मे न पाए जाते हों। आधुनिक युग मे मौलिकता की इच्छा अथवा कुछ नया देने की लालसा बडे प्रबल रूप मे दृष्टिगोचर हुई है।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रयोग का आरम्भ फैशन या पाश्चात्य साहित्य के अनुकरण के रूप में नहीं हुआ और न ही नए लेखकों ने जानबूझकर पूर्ववर्ती परपरा को पूर्णत नष्ट करने या उसका अनादर करने की दृष्टि से साहित्य में नए प्रयोग प्रारम्भ किए। वस्तुत बदले हुए युग की नई परिस्थितियों की माग थी कि साहित्य में परिवर्तन होना चाहिए।

२ प्रयोग सर्जनात्मक साहित्य की अनिवार्यता

आज का समय वाद तथा विवाद का है। यह युग का धर्म है कि वह अपने समाज में विजातीय तत्त्वों की प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। जब भी एक सस्कार दूसरे सस्कार पर हावी होने का उपक्रम करता है, तभी प्रतिक्रिया होती है और यह प्रतिक्रिया किसी विचारधारा की सज्ञा लेकर ही समाज में प्रवेश करती है। इन प्रतिक्रियाओं का प्रभाव समाज के विभिन्न पहलुओं पर तो पडता ही है साहित्य भी उससे अछूता नहीं रहता। सजनात्मक साहित्य की प्रकृति शुरू से ही प्रयोग में भी रही है, इतना अवश्य है कि आज के युग में जिस मात्रा में प्रयोग हो रहे हैं और उनके स्वरूप में जितनी जल्दी परिवर्तन हो रहे हैं उतना और वैसा आज से पहले कभी नहीं होता था। अत प्रयोग आज के युग की एक अनिवार्य आवश्यकता बन गया है क्योंकि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह नितात अनिवार्य है।" इसी से परपरा का प्रारंभ भी माना जाता है। डॉ० अवतरे के अनुसार, 'जब युग युग सधि के मध्य से गुजरना चाहता है और जीवन के मूल्यों में परिवर्तन तेज गति से हो जाता है तब प्रयोगों गत्वरता की अपेक्षा होती है। किन्तु इसके साथ यह भी याद रखना चाहिए कि अनर्गल या अनियन्त्रित प्रयोगों से साहित्य की उतनी हानि नहीं होती जितनी किसी भी प्रकार के प्रयोग का मार्ग रोकने से होती है। क्योंकि प्रयोगों का मार्ग खुलने से किसी सीमा तक सफल प्रयोग भी अवश्य होंगे। किन्तु यदि प्रयोग की प्रवृत्ति को ही दबाने का प्रयत्न किया जाएगा तो साहित्य जहा तक जा पहुचा है उससे एक कदम भी आगे नहीं बढने पाएगा। वे लोग जो नए प्रयोगों का विरोध करते हैं, साहित्य को उस स्थान से आगे नहीं बढने देना चाहते जहां उन्होंने स्वय साहित्य को पाया था, जहा तक उन्होंने उसे स्वय पहुचा दिया है। किन्तु इस प्रवृत्ति से साहित्य का विकास होना असम्भव है। इससे केवल रूढिवादिता की रक्षा हो सकती है। यदि रचनात्मक साहित्यकार साहित्य के अभिनवीकरण के लिए नए प्रयोग नहीं करता और आलोचक उसके प्रयत्नों का निष्पक्ष और पूर्वग्रहरहित मूल्याकन नहीं करता तो दोनों ही अपने उत्तरदायित्व को निभाते नहीं। ऐसे प्रयोग ही 'वाद' का रूप ग्रहण कर लेते हैं। और यदि साहित्य में पुनर्जीवन लाना है तो प्रयोग होते रहने चाहिए। बिना प्रयोग के साहित्य निर्जीव हो जाता है, बिना प्रयोग के युग का ह्रास हो जाता है, गतिरोध की स्थिति उत्पन्न

हो जाती है। किन्तु प्रयोग के मूल मे ईमानदारी होनी चाहिए, कला-कौशल, धन कमाने की चतुराई या घमण्ड नही। इसके विपरीत प्रयोग दृढ, स्वतन्त्र और भावागत भी होना चाहिए। यदि आज का लेखक प्रयोग करते समय इन बातो का ध्यान रखे तो निश्चय ही वह साहित्य को ऊंचाई के शिखर पर पहुचा सकेगा और यही आज के सर्जनात्मक साहित्य की अनिवार्यता समझी जाती है। अत प्रयोग साहित्यकार के अन्त करण की आवाज है और रचनाकार की मौलिकता परपरा से अलग नही होती। अनिवार्य आवश्यकता के रूप मे प्रयोग की शास्त्रीय स्थापना का इससे बढकर प्रमाण और क्या हो सकता है कि विश्व मे अद्यावधि जितने मोड आए हैं और भविष्य मे भी जो आने वाले हैं, वे सबके सब प्रयोग हैं और प्रयोग ही कहलाएंगे।

३ साहित्यिक प्रयोगशीलता की परिभाषा और विशिष्टताए

साहित्यिक प्रयोगशीलता की कोई निश्चित परिभाषा नही हो सकती। कह सकते हैं कि वह साहित्यिक अभिरुचि और विकास का मुख्य अग है तथा नवीन क्रिया-शीलता की सजग अभिव्यक्ति। इसके द्वारा विभिन्न तथ्यो को खोजा जा सकता है तथा इसके माध्यम से ही जाने-अनजाने साहित्य मे रचनात्मक और आलोचना-त्मक मोड आते हैं क्योकि प्रयोग की प्रेरणा से ही साहित्य मे पुनर्जागरण होता है। इसलिए 'प्रयोग को अभिव्यक्ति का पृथक सार्थक उद्रेक" कहा गया है। लक्ष्मीकात वर्मा इसे "मौलिक प्रतिभाशील काव्यादर्श" कहते हैं। इस प्रकार प्रयोग का विश्लेषण मुख्यत तीन रूपो मे हमारे सामने आता है, १. परम्परा-विरोधी प्रयोग, २ परम्परा को लेकर चलने वाले प्रयोग, ३ सर्वथा नई अभि-व्यक्ति वाले प्रयोग। वास्तव मे प्रयोगग्राही नए विषय को अभिव्यक्त करने का माध्यम भी नया मानता है। इसी कारण कुछ विद्वान लोग प्रयोग को शिल्प का नवीन चमत्कार मानते हैं। वस्तुत शिल्प व्यक्ति का एक अग है, इसमे साहित्यिक चेतना का जीवन है। हिन्दी साहित्य मे विद्रोह का तीखा स्वर मिलता है परन्तु वह व्यावहारिक कम है और सैद्धातिक अधिक है। अत उपर्युक्त प्रयोग के विश्लेषण तथा उसकी परिभाषा के माध्यम से प्रयोगशील साहित्य मे निम्न-लिखित विशेषताए पाते है—

१ प्रयोग भाव और व्यजना का मिलाजुला रूप होता है।
२ अमूर्तकलाओ मे प्रयोग की स्वतन्त्रता अधिक होती है, अत साहित्यकार प्रयोग करने मे पूर्णत स्वतन्त्र है।
३ प्रयोग प्राय परपरा-समर्थक नही होता और कई बार महान पूर्ववर्तियो को भी निष्प्राण मानता है।
४ प्रयोग इसके भी पक्ष म नही है कि उसका अनुकरण किया जाए।

५. प्रयोग स्वच्छन्द भाष्य का पक्षपाती है।
६ प्रयोग एक-वाक्य पदीय प्रणाली को मानता है।
७ प्रयोग साधनरूप होता है, साध्य रूप नहीं।
८ प्रयोग जीवन और कोष को कच्चे माल की खान मानता है।
९ प्रयोग प्रयुक्त शब्द और छन्द का स्वत निर्माण करता है। इसलिए भाषा-मूलक प्रयोग व्यष्टिमूलक और समष्टिमूलक भी होते हैं।
१० प्रयोग का मुख्य दृष्टिकोण अनुसधान है।

शैली शिल्प के क्षेत्र मे तो प्रयोगवाद और भी आगे बढ चुका है—जो व्यक्ति का अनुभव है उसे समष्टि तक कैसे पहुचाया जाए, यह उसके सामने समस्या है। इस क्षेत्र मे मुख्य विशेषता है भाषा का सर्वथा वैयक्तिक प्रयोग। प्रयोगवादी प्रचलित अर्थ-व्यजना को ग्रहण करना पसन्द नही करता। अपने अनुभवो को व्यक्त करने के लिए वह साधारण शब्दार्थों को असमर्थ मानता है। उसका विश्वास है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालिया रूढ हो गई हैं। अत वह भाषा की क्रमश सकुचित होती हुई केंचुली को फाडकर उसमे नया, व्यापक और सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है। साराश यह है कि प्रयोगवादी जीवन की भाति लेखन मे भी नवीनता और प्रयोग का महत्त्व मानता है।

४ नाटक की विधागत प्रयोगधर्मिता और उसके आयाम

ईसा के जन्म के एक-दो शती इधर या उधर नाट्यशास्त्रकार भरत ने तो नाटक को वाङ्मय का सर्वश्रेष्ठ रूप माना ही था परन्तु आज बीसवी शती की आठवी शताब्दी के आरम्भ म केन्द्रीय विधा की तलाश करते साहित्यकार की दृष्टि का भी अतत नाटक पर आ टिकना अचानक किया नही माना जा सकता। आधुनिक चिन्तक मानता है कि हमारे युग की शायद ही कोई महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति होगी जो आधुनिक नाटक मे प्रतिबिम्बित न हुई हो वरिक कहा गया है कि इस युग का बौद्धिक, सामाजिक और सवेदनात्मक इतिहास उसके नाटक साहित्य के आधार पर ही लिख दिया जा सकता है। तथा आधुनिक युग की जटिल नई अद्भुत और अनुस्यूत सवेदनाओ की अभिव्यक्ति के लिए नाटक जैसा उपयुक्त अन्य साहित्य रूप नही है। अत स्पष्ट है कि अन्य आधुनिक साहित्य विधाओ म जैसे —उपन्यास, कहानी, कविता निबध, आलोचना मे नाटक सर्वाधिक सशक्त, प्रभावशाली एव महत्त्वपूर्ण विधा है तथा नाटककार की शक्ति-सामर्थ्य की एक मात्र कसौटी है और अप्रत्यक्षरूप से सम्पूर्ण जीवन के अध्ययन का मूल सूत्र है। वास्तव मे नाटक साहित्य की वह नियमित और सयमित विधा है जिसमे घटना को इस प्रकार अभिव्यक्त किया जाता है कि इसके प्रभाव से पाठको एव दर्शको का मन आकृष्ट और आक्रात हो जाता है। इसलिए इसे एक प्रस्तुतिमूलक कला भी कहा जाता

है। नाटक सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या नही, वरन् जीवन की एक प्रभावोत्पादक परिस्थिति, घटना या खड प्रसग का चित्र है। इसमे प्रासगिक कथाओं के लिए स्थान नही होता क्योंकि इसमे सक्षिप्तता पर विशेष बल दिया जाता है। इसीलिए नाटक का रचनाविधान समय-सीमित होता है और दो-तीन घटों में ही कितना कुछ प्रदर्शित करने की अनिवार्यता प्रयोगधर्मिता की माग करती है। तीसरा कारण यह है कि उसका कथा-सयोजन भिन्न प्रकार का होता है और विभिन्न सूत्रों में अन्विति प्रयोग के बिना नहीं लाई जा सकती। नाटक का कथानक सरल और अभिनयशील होता है। उसमे आकर्षक एव रोचक प्रसगो का होना आवश्यक है। कथानक मे सदैव सुसम्बद्धता होती है जिससे पाठक की जिज्ञासा निरन्तर बनी रहती है।

इसी प्रकार पात्र-परिकल्पना के आधार पर भी नाट्यविधा प्रयोगधर्मी है क्योंकि साहित्य मे नाटक और नाटक मे पात्र-सृष्टि का विशेष महत्व है। कथा साहित्य मे तो कथा विस्तार, वर्णन-सौष्ठव और विवेचन विश्लेषण से भी काम चलाया जा सकता है परन्तु नाटक का तो पूर्ण कार्य-व्यापार ही पात्र और उनके अभिनय के माध्यम से सपन्न होता है। अत जगदीशचन्द्र माथुर ने पात्रों के माध्यम से प्रयोग करके नाटक को मच पर दृश्य रूप में प्रस्तुत किया है। उनसे पूर्व नाटक का मचन उसकी एक अतिरिक्त विशेषता थी और अब उसे नाटक की एक अनिवार्य शर्त माना गया है। नाट्यालेख मे प्रस्तुत पात्र नाटककार द्वारा रूपायित केवल एक रेखाचित्र है जिसे मच पर अभिनेता और निर्देशक को अपनी सूझबूझ एव प्रतिभा से रग कर एक जीवन्त चरित्र के रूप में प्रस्तुत करना है।

सवादो और भाषा के बिंदुओ को भी लेकर हम कह सकते हैं कि नाट्यविधा प्रयोगधर्मी है, क्योंकि सपूर्ण वाङ्मय का सृजन शब्दो से होता है। परन्तु नाटक की यह विशेषता है कि इसकी सृष्टि का आधार उच्चरित शब्द है और शब्दों के उच्चारण की माग को पूरा करके नाटक इनका अधूरापन समाप्त कर देता है। नाटककार के लिए शब्द साधना ही समस्त उपलब्धियो का मूल है। सार्त्र ने भी 'वाट इज लिटरेचर" मे 'केवल शब्द को ही व्यक्ति चरित्र के समस्त रहस्यो को उद्घाटित करने वाला अचूक साधन माना है और नाटककार इस साधन का भरपूर प्रयोग करता है।" जबकि बेंटले भी यही कहते हैं कि—"नाटक मे प्रत्येक कथन ठीक उतना ही होता है जितना कि उसे होना चाहिए।" (दि लाइफ ऑफ दि ड्रामा)। ए निकोल कहते हैं कि—"नाटककार को ऐसी नाटकीय भाषा का प्रयोग करना होता है जो दोहरा प्रभाव उत्पन्न करे। एक ओर उसमे नाटककार के अपने व्यक्तित्व और निजत्व की छाप होनी चाहिए और दूसरी ओर उन सवादो के वक्ता के व्यक्तित्व के लिए उपयुक्त हो।" (वर्ल्ड ड्रामा)। इस प्रकार नाटककार दोहरी प्रक्रिया की कठिन परीक्षा से गुजरकर प्रयोगधर्मी बनता है। निष्कर्षत

इम यह भी कह सकते हैं कि उपरोक्त कारणों से ही नाट्यविधा अन्य विधाओं से अलग स्थान ग्रहण करती है।

नाटक में प्रयोगधर्मिता के आयामों का तात्पर्य है नाटक की वे दिशाएं जिनमें प्रयोग की प्राय गुंजाइश रहती है और जिनसे नाटक को सार्थकता मिलती है। इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम नाट्यलेखन की शैली आती है क्योंकि यह शैली नाटककार की अपनी परिस्थितियों और उसकी सामर्थ्य के अनुसार विकसित होती है। इस विकास का सम्बन्ध उस देश, युग और काल की अपनी आतरिक शक्ति से है। इसके अतिरिक्त नाट्य लेखन की रचनेतना, भगिनी कलाएं (संगीत, नृत्य, कविता, चित्रकला), निर्देशन, अभिनय, मचाभिकल्पना, प्रेक्षण इत्यादि के आयाम भी लिए जा सकते हैं। डॉ० लाल यह मानते हैं कि "अभिनेता, निर्देशक ही अपनी कला से नाटक देखने का यह महत् कोण देते हैं जिससे नाटक के सारे कार्यव्यापार सहज और अर्थवान हो जाते हैं।" क्योंकि नाटक में इसका दायित्व किसी एक पर न होकर तीनों पर होता है (नाटककार, अभिनेता, निर्देशक)। नाटककार के लिए माध्यम के रूप में अभिनय की प्रकृति, शैलियां और तकनीकों को अच्छी तरह से समझना आवश्यक है, क्योंकि उन्हीं आयामों के अनुसार उसे अपनी रूपरेखा तथा उनके विकास में निर्धारित करना है। अत इसमें से किसी एक आयाम का अभाव नाट्यलेखन को अवास्तव और वायवी बना देगा। इन सभी आयामों की परस्पर समन्वीयता और सापेक्षता ही नाटक की सुघडता और सुन्दरता की नियामक हैं।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि "प्रयोग" वास्तविक रूप में प्रत्येक युग की एक अनिवार्य आवश्यकता है। 'मनोवैज्ञानिक रूप से यह नितांत अनिवार्य है।" 'प्रयोग' का हम केवल युगधर्मिता के आधार पर ही महत्वपूर्ण नहीं कह सकते बल्कि युगानीन चिन्तना के आधार पर भी वह अनिवार्य आवश्यकता है। जब तक युग संधि के बीच से गुजरता है और जीवन मूल्यों में परिवर्तन तीव्रगामी हो जाता है तब प्रयोगों गत्यात्मकता की अपेक्षा होती है। इसके द्वारा ही साहित्य का नवीनीकरण होता है तथा उसको निश्चित स्थान पर ला खड़ा कर देता है। अनिवार्य आवश्यकता के रूप में प्रयोग की शास्त्रीय स्थापना का इससे बढ़कर प्रमाण और क्या हो सकता है कि विश्व में अद्यावधि कितने मोड आए हैं और भविष्य में भी जो आने वाले हैं, वे सब-के-सब प्रयोग हैं और प्रयोग ही कहलाएंगे। अत प्रयोग के द्वारा नाट्यलेखन की प्रगति एवं विकास होता है। डॉ० शीतांशु के अनुसार, "प्रयोग वैयक्तिक प्रतिभा के उन्मेष के लिए भी अनिवार्य है—प्रयोग रचनाकार के अन्तःकरण की मौलिक आवश्यकता है और कथाकार की मौलिकता परम्परा प्रथित नहीं होती, यहां तो "यथास्मै रोचते विश्व तथेद परिवर्तते' का नित्य नवीन और मौलिक सर्जन होता है (नई कहानी में विविध प्रयोग)। ●●

२

जगदीशचन्द्र माथुर के नाट्य-प्रयोग की भूमिका

नाट्य प्रयोग में सार्थकता की खोज आज के गम्भीर हिन्दी रंगकर्मी के लिए एक चुनौती है और इसका सामना किए बिना निजी रंग-दृष्टि का अन्वेषण संभव नहीं होता। हिन्दी रंगमंच का विकास देखें तो पता चलता है कि यह परम्परा किसी-न-किसी बाहरी प्रभाव से प्रभावित रही है। परन्तु आज यथासम्भव बाहरी प्रभाव को झटककर अपने ही परिवेश में प्रयोगधर्मी नाटकों के जो प्रयास हुए वे निस्सन्देह सराहनीय है। जगदीशचन्द्र माथुर एक प्रयोगधर्मी नाटककार रहे हैं। उनके 'कोणार्क' में "उपक्रम" तथा "उपसंहार" हिन्दी नाट्य साहित्य में नवीनतम प्रयोग है जिससे हिन्दी नाटक को नई दिशा मिली और बढ़ती हुई उम्र और तजुर्बों के बावजूद भी 'पहला राजा" में वे एक नया प्रयोग करने में समर्थ हुए हैं। "शारदीया" में ऐतिहासिकता के मोह में पड़कर भी नाटककार ने साहित्यिक सौंदर्य को ठेस नहीं लगने दी। "दशरथनन्दन" पढ़े-लिखे नागरिकों तथा छात्र-छात्राओं को आकृष्ट करने की दिशा में एक लघु प्रयास है। 'कुंवरसिंह की टेक" तो माथुर के अनुसार एक प्रयोग मात्र है क्योंकि उसमें भोजपुरी गीतों का भण्डार मिलता है। "गगन सवारी" तो एक कठपुतली नाटक के रूप में हमारे सामने आता है। अतः पुरातन की भूमिका में नित्य नूतन का यही उन्मेष माथुर का वृत्त है।

१ पूर्वकालीन नाट्य-प्रयोग

हिन्दी नाटक साहित्य का वास्तविक प्रणयन और प्रयोगाग्रह भी भारतेन्दु युग से होता है। भारतेन्दु काल राष्ट्रीय जागरण तथा नवसांस्कृतिक चेतना का उन्मेष-युग था। इस युग में जहां जन-सामान्य में राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ, वहां

दूसरी ओर सामाजिक और धार्मिक जागरूकता भी आई। अत उन्होने पौराणिक-ऐतिहासिक गौरव गाथाओ को नाट्य माध्यम से वसार समाज और देश को अनुप्राणित किया और प्रहसना द्वारा सामाजिक कुरीतिया पर तीखा व्यग्य किया। भारतेन्दु-युगीन नाटको मे भारतीय और पाश्चात्य नाट्यकला का समन्वय है। हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि—"भारतेन्दु के सरल औदार्य और स्वाभाविक सारस्य ने उनके साहित्य को तो महान बनाया है और उनके सम्पर्क मे आने वालो को भी शक्ति-सम्पन्न कर डाला जबकि अनूदित नाटको के जरिए एक साथ कई काम किए। उन्होने नाटको के माध्यम से नई हिन्दी को लोकप्रिय बनाया। पारसी रगमच का विरोध किया तथा प्राचीन नाटको का उद्धार किया।

यही कारण है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्तीयो की समस्त रचनाओ, अपने समय मे प्रचलित सभी नाट्य रूपा मे, अपनी स्वभावशीलता के अनुकूल सार्थक तत्त्वा *का सकलन कर, युग धर्म और जनरुचि को पहचान कर, हिन्दी के लिए* अपना रग-विधान खोजने की कोशिश की। परन्तु उनके नाटको मे नाटकीय तत्वो का समावेश नही मिलता, अत हम इनके सवादयुक्त कलेवर के कारण, इन्हे आधुनिक नाटको की कोटि मे नही गिन सकते।

भारतेन्दुकालीन नाटका की भाषा और सवाद एव "आयामी पात्रो के मानसिक स्तर के अनुकूल है, उनमे सूक्ष्मता के दर्शन नही होते है। भारतेन्दु काल मे खडी बोली के साहित्यिक रूप का परिमार्जन आरम्भ हुआ था। उस काल के नाटको की भाषा पात्रा के वर्ग के अनुरूप होनी है जिसमे उर्दू, फारसी तया अग्रेजी के शब्द भी व्यवहृत होते हैं। डॉ० गुप्त के अनुसार—"भारतेन्दु ने अपनी रचनाओ मे सब प्रकार के पात्र लिए हैं और सब का चरित्र प्रत्येक पात्र के अनुकूल है, उपदेशप्रद भी है और यथार्थ भी। (हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास)। जबकि डॉ० खन्ना कहते हैं—'यद्यपि साधारण पात्रो का चित्रण भारतेन्दु ने यथार्थवादी ढग से किया है तथापि प्रमुख पात्रो का चित्रण प्राय आदर्शवादी ही है।" शिल्प के क्षेत्र मे भारतेन्दु ने अपने पूर्ववर्तीयो और समकालीनो के नाट्य-रूपा से तत्त्व इकट्ठे किए और हिन्दी को एक स्वतन्त्र रग विधान देने का प्रयास किया जिसम पौरस्त्य तत्त्व प्रमुख थे और पाश्चात्य तत्त्व गौण थे। भारतेन्दु काल के नाटककारा मे, भारतेन्दु के सहयोगियो—श्री निवासदास, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी, प्रेमधन, तथा राय देवीप्रसाद 'पूर्ण" आदि के नाम उल्लेख्य हैं।

परन्तु भारतेन्दु के नाटको का एक और पक्ष भी है जिसम "भारतेन्दु कालीन अधिकाश नाटककारो ने मनोविज्ञान की मिट्टी से पात्रा को गढा है।" डा० त्रिपाठी के अनुसार, 'पाश्चात्य दुखान्त नाटको के आधार पर भारतेन्दुकालीन दुखान्त नाटका के चरित्र म मानसिक सघर्प और अन्तर्द्वन्द्व के चित्र रखे गए हैं।' डॉ०

गुप्त भी मानते हैं कि "भारतेन्दु के नाटको मे काव्य एव आन्तरिक द्वन्द्व की नवीन पद्धति, अग्रेजी सभ्यता और साहित्य के सम्पर्क एव मनोविज्ञान द्वारा सुविकसित हुई है।"

अत भारतेन्दु युग के नाटको मे नव-जीवन की जिस लिपटता का परिचय मिलता है वह अन्य युग के नाटको म नही। इस युग के नाटककारो का एक तो परम्परागत रगमच उपलब्ध नही हो सका और दूसरे इस बीच लगातार मध्यवर्ग की वृद्धि के कारण लोक-जीवन से सहज सम्बन्ध भी टूट गया। स्पष्ट है कि उस समय तक हिन्दी प्रदेश की सामान्य जनता का मानसिक स्तर पर्याप्त नीचा था। क्रमश उच्च शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ जनरुचि मे परिवर्तन हुआ। दूसरी ओर आगे थियेटर कम्पनियो का स्थान चित्रपट ने ले लिया। साथ ही इस समय प्रतिभाशाली नाटककारो का अभाव ही रहा है। पारसी कम्पनिया के लिए लिखे जाने वाले नाटको की परम्परा समाप्त हुई और प्रसाद जी के नाटको से हिन्दी मे साहित्यिक नाटको का द्वितीय उत्थान आरम्भ हुआ।

प्रसाद-युग

सन् १९०१ से लेकर १९३६ का समय लगभग प्रसाद युग का माना जाता है। यह युग हिन्दी नाटको के क्षेत्र मे एक नवीन क्रान्ति लेकर आया। इस युग के नाटको म राष्ट्रीय जागरण एव सास्कृतिक चेतना का सजीव चित्र अकित हुआ है। हिन्दी नाटको के क्षेत्र मे स्वच्छन्दतावादी अभिनव नाट्यकला को जन्म देने का श्रेय इसी युग को है। इस युग के नाटककारा ने प्राचीन और नवीन शैलिया के समन्वय से एक अभिनव शैली का सृजन किया तथा भारतेन्दु युग की पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाट्य-धाराओं को अपनाया अवश्य, पर इस युग के पौराणिक नाटका की विषयवस्तु का क्षेत्र अधिक विशाल है। इनमे नवीन प्रसगा और पात्रा की उद्भावना की गई है। सामाजिक नाटको द्वारा समाज की समस्याओ और कुरीतिया का उद्घाटन किया गया है। इन नाटका के कथानक विविधता लिये हुए हैं। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार "प्रसाद के नाटको का आकर्षण-उपकरण उनकी बहुरगी एव गम्भीर चरित्र-सृष्टि है। ये नाटक चरित्र के द्वन्द्व को लेकर चलते हैं।" (विचार और अनुभूति)। "नि सन्देह प्रसाद जी ने नाट्य क्षेत्र में नाटक को नए चरित्र, नई घटनाओ, नया इतिहास, देशकाल, नया आलाप-सलाप, सक्षेप म सपूर्ण नया समारभ किया।" जबकि डॉ० ओझा कहते है कि, "वह नवीन मत को अपनाते हैं जो नाटकीय पात्रो के चरित्र म आरोह-अवरोह के सिद्धान्त का प्रतिपादक है।" (हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास)।

प्रसाद युग के नाटककारो की मौलिक प्रतिभा का परिचय उनके द्वारा निर्मित चरित्रा स प्राप्त होता है। इस युग के नाटको के चरित्रो मे भारतीय और पा-

श्चात्य पद्धतियों का अद्भुत समन्वय हुआ है। बहुरंगी, गौरवशाली और गम्भीर पात्र-सृष्टि द्वारा इस युग के नाटक प्राणवान् बन गए हैं। चरित्र-सृष्टि मे पात्रो का मनोवैज्ञानिक चित्रण कर इस युग के नाटककारो ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया। इसके साथ ही प्रसाद युग के नाटको मे भाषा के क्रमिक विकास को भी देखा जा सकता है। इन नाटककारो मे सस्कृत नाट्यशैली के प्रति जहा एक ओर मोह है, वही दूसरी ओर पाश्चात्य नाट्यशैली के प्रति भी अभिरुचि कम नही है। उन्होने दोनो नाट्यशैलियो का सुन्दर समन्वय कर मध्यम मार्ग का अनुसरण किया है। इस समय नाटककारो ने रूढ परम्परा को छोडा, नवीन जीवन-दर्शन को ग्रहण किया तथा सौदर्य के प्रति आकर्षण को, प्रेम की सवेदना को, अतीत की राष्ट्रीय गरिमा को आधुनिक सदर्भों मे चित्रित किया तथा शिल्प के धरातल पर स्वच्छन्दता को समझा। प्रसाद-परम्परा के नाटककारो मे जयशकर प्रसाद, चन्द्रगुप्त विद्यालकार, सेठ गोविन्ददास, पाडेय बेचन शर्मा उग्र, उदयशकर भट्ट, सियारामशरण गुप्त, गोविन्दवल्लभ पन्त, हरिकृष्ण प्रेमी, माखनलाल चतुर्वेदी तथा बलदेव प्रसाद मिश्र, वृ दावनलाल वर्मा आदि के नाम उल्लेख्य हैं।

प्रसादोत्तर युग

प्रसाद युग के बाद हिन्दी नाटक का नवीन युग प्रारम्भ होता है। वातावरण और जीवन की यथार्थता से हिन्दी नाटककारो को नयी दृष्टि मिली। इस युग का समय १९३८ ई० से १९४७ ई० तक माना जाता है। प्रसादोत्तर युग मे हिन्दी नाटक ने रोमास और भावावेशो को पुरानी वस्तु समझकर त्यागना आरम्भ किया, जीवन की बौद्धिक एव मनोवैज्ञानिक व्याख्या की जाने लगी। कल्पनालोक मे विचरण या अतीत मे शरण या आदर्शवाद मे पलायन की वृत्ति को तिलाजलि दे दी गई। जीवन को उसके समग्र रूप मे या यथार्थ रूप मे देखे जाने की बातें कही जाने लगी और शॉ तथा इब्सन के अनुकरण पर समस्या नाटको का सर्जन आरभ हुआ। इस काल मे नाटककार नाटक की दिशा मे नवीन टेकनीक और स्वच्छन्द कला को लेकर अवतरित हुए। इस युग के प्रतिनिधि नाटककार के रूप मे श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्दवल्लभ पन्त, सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क की चर्चा भी की जा सकती है।

२. समकालीन नाट्य-प्रयोग

डॉ० जगदीशचन्द्र माथुर के नाटक स्वातन्त्र्योत्तर युग के प्रथम चरण के अन्तर्गत आते हैं। इस वर्ष के अनन्तर नाटको मे पौराणिक-ऐतिहासिक कथा प्रसगो एव पात्रो को समसामयिक सामाजिक-आर्थिक सास्कृतिक-मनोवैज्ञानिक समस्याओ एव प्रश्नो की अभिव्यक्ति और व्याख्या का माध्यम बनाया गया। हिन्दी नाटककारो का ध्यान रगमच की ओर विशेष रूप से गया और नाट्य क्षेत्र मे अभिनव

प्रयोगो का सूत्रपात हुआ। घटनाओं का स्थान अन्त.सघर्षों, सवेदनो ने, वर्ग-पात्रो का स्थान व्यक्ति-पात्रो ने तथा बाह्य परिस्थिति का स्थान व्यक्ति की मानव-परिस्थिति ने ले लिया। उपर्युक्त स्थिति ने हिन्दी नाटक क्षेत्र मे दो श्रेणी के नाटककारो को जन्म दिया, एक वे नाटककार थे जो सामाजिक यथार्थ के इस विष को पीकर पचा गए और अपनी नाट्य वृति के माध्यम से उन्होने समाज के इस कटु यथार्थ को समाज ही को लौटा दिया, जैसे आधे-अधूरे, रातरानी, शतुर्मुर्ग आदि। दूसरे वे नाटककार थे जिनका अतीव सवेदनाशील मानस मानसिक तनाव और मोहभग के आघात को न सह पाया। वे उससे बेसुध-से हो गए, उनका सम्बन्ध, बेसुध होने पर, यथार्थ से टूट गया, वे फैंटेसी के लोक मे पहुच गए। किन्तु फैंटेसी भी व्यक्ति के यथार्थ से प्रतीको के माध्यम से जुडी रहती है। इन नाटककारो ने प्रतीको, बिंबो, मिथको को पौराणिक-ऐतिहासिक चरित्रों और कथा-प्रसगो के माध्यम से अभिव्यक्त करते हुए ही वर्तमान और भविष्य की व्याख्या आरम्भ की। 'लहरो के राजहस', 'सूर्यमुखी' 'पहला राजा' तथा 'उर्वशी' आदि नाट्य-कृतियाँ इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती है।

स्वातंत्र्योत्तर युग

प्रसादोत्तर युग के पश्चात् स्वातन्त्र्योत्तर युग का आरम्भ होता है जिसका समय १९४७ ई० से १९६० ई० तक माना जाता है। स्वातत्र्य प्राप्ति का वर्ष सन् १९४७ हिन्दी-नाट्य-साहित्य के इतिहास मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्ष है। इस वर्ष के अनन्तर ही सही रूप मे आधुनिक नाट्यलेखन की परम्परा आरम्भ हुई। हिन्दी नाटककार का ध्यान रगमच की ओर विशेष रूप से गया और नाट्यक्षेत्र मे अभिनव प्रयोगो का सूत्रपात हुआ। इस वर्ष के नाटको मे पौराणिक-ऐतिहासिक कथा-प्रसगो एव पात्रों को समसामयिक सामाजिक-आर्थिक, सास्कृतिक-मनोवैज्ञानिक समस्याओ और प्रश्नो की अभिव्यक्ति और व्याख्या का माध्यम बनाया गया। इस काल के नाटककारो ने पात्रानुकूल सवादो की रचना की है। स्वगत कथनो का, सवादो के बीच पद्य के प्रयोग का, गीतो के समावेश का, सवादो मे सस्कृत-गर्भित, काव्यात्मक, आलकारिक भाषा का बहिष्कार होना शुरू हो गया। भाषा पात्रानुकूल रखी गई है। भिन्न-भिन्न प्रातीय भाषाओं एव बोलियो का भी प्रयोग हुआ है। आज का नाट्य विधान विविधता एव बोलियो की ओर तेजी से उन्मुख है। एकाकी, अनेकाकी, रेडियो नाटक, गीति नाटक और प्रतीकात्मक नाटक के अतिरिक्त नृत्य नाट्य, छाया नाटक, कठपुतली नाटक, सगीत रूपक, एक पात्रीय नाटक, स्किट, लघु नाटक, सिने नाटक, आपेरा, भाव नाट्य आदि नवीन टेकनीको के विकास का प्रयत्न नाट्य क्षेत्र मे किया जा रहा है। इनमे रग सकेतों को अधिक महत्त्व दिया गया है। इस युग के नाटककारो ने नाटक और रगमच को एक-दूसरे

थे। १४ वर्ष की आयु मे माथुर ने प्रथम रचना "हेनरी फोर्ड का जीवन चरित्र" लिखी। प्रयाग मे हिन्दी प्रेस वालो को जब यह रचना भेजी तो उन्होने चालीस रुपये के मनीआर्डर के साथ यह कहा, "महोदय, आपकी पुस्तक किशोर और युवको के लिए उपादेय है। हम उसे अपनी सिरीज मे प्रकाशित करेंगे।" (दस तस्वीर)। इस भाति इन्हे साहित्य-रचना की प्रेरणा मिली और हिन्दी प्रेस वालो ने इन्हे लेखको की पक्ति मे ला बिठाया।

हिन्दी नाटक साहित्य को भारतेन्दु जी ने राष्ट्रीय चेतना तथा सास्कृतिक नव जागरण के तत्वो से मण्डित किया था, प्रसादजी ने ऐतिहासिक-पौराणिक कथानक के माध्यम से इन्ही तत्वो की लोक-चेतना मे परिष्कार को सफल बनाया और भारतीय नाट्यशिल्प म पाश्चात्य नाट्यविधि का समावेश करके विकसित रगमचीय कला की आधारशिला रखी। नाटककार के रूप मे माथुरजी को प्रसाद की यही नाट्यकला विरासत मे उपलब्ध हुई, जिसका उन्होने केवल सफल निर्वाह ही न किया, वरन् उत्कर्ष की दिशा भी प्रदान की। डॉ० माथुर का नाट्यचिन्तन अगर एक तरफ भारतीय विचारधारा से प्रभावित है तो दूसरी तरफ वे पाश्चात्य विचारधारा से भी प्रेरणा ग्रहण करते रहे है क्योकि "पहला राजा" की भूमिका मे स्पष्ट लिखते हैं कि—"मैं कोई नई बात नहीं कर रहा हू। बर्नार्ड शा (जोन ऑव आर्क), क्रिस्टोफर फ्राइ (द फर्स्ट बार्न), डी० एच० लारेन्स (डेविड), जा० एनुल्हि (ट्रोजन वार), ब्रेख्त (गेलिलियो) इत्यादि अनेक आधुनिक नाटककारो ने प्राचीन पात्रो, प्रसगो और परिस्थितियो के माध्यम से रगमच पर समसामयिक समस्याओ का विश्लेषण किया है। एक अत्याधुनिक इटेलियन फिल्म डायरेक्टर-पासोलिनी ने हाल ही मे ईसा की जीवनी और वातावरण के जरिए वर्तमान जीवन की असगतियो पर प्रकाश डाला है। "पहला राजा" भी ऐसा ही एक प्रयोग है। माथुरजी के जीवन पर सामाजिक परिवेशका प्रभाव पड़ा है यही कारण है कि उन्हे समाज के विभिन्न वर्गों को निकट से देखने का सुअवसर मिला है। अत उन वर्गों एव लोगो से अभिप्रेरित होना स्वाभाविक ही था। माथुरजी राष्ट्रपिता महात्मा गाधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रयाग विश्वविद्यालय के उपकुलपति अमरनाथ झा, हिन्दी के महान कवि सुमित्रानदन पत, कवि नरेन्द्र शर्मा, मराठी साहित्यकार पुरुषोत्तम मगेशलाड, अग्रेजी शिक्षक—एफ जी बीयर्स, बासुरीवादक, पन्नालाल घोष, इतिहासज्ञ एव पुरातत्ववेत्ता सदाशिव उल्टेकर, पत्रकार सच्चिदानन्द सिन्हा, बगला कवि—सुधीन्द्रनाथ दत्त जैसे महान् व्यक्तियो से प्रभावित होकर उन्होने साहित्य मे प्रयोग किए। प्रमुख रूप से माथुरजी गाधीवादी विचारधारा से प्रभावित और राष्ट्रीयता एव देशप्रेम की भावना से ओत-प्रोत व्यक्ति हैं।

माथुरजी भारतीय सस्कृति के अनुयायी हैं और भारतीय सस्कृति और इतिहास मे उनका अटूट विश्वास है। भारतीय इतिहास की गौरवपूर्ण घटनाओ को

नाटकीय रूप दिया है लेकिन माथुर ने भारतीय संस्कृति का अनुकरण नहीं किया है। वे समाज में फैले हुए अन्धविश्वासों, रूढ़ियों-असमानता आदि से दुःखी दिखाई देते हैं। यही कारण है कि उनके सभी नाटकों में एक प्रबुद्ध कलाकार के संयम के साथ मानव स्वाभिमान को चोट पहुंचाने वाली अमानवीय, जर्जर मान्यताओं और लोकाचार पर निर्मम प्रहार किया गया है।

माथुरजी प्रयोगवादी कलाकार हैं और उन्होंने अपने नाट्यसाहित्य में नए-नए प्रयोग किए हैं। शायद यह प्रवृत्ति भी पैतृक ही है क्योंकि उनके पिता शैक्षणिक एवं सामाजिक क्षेत्र में आजीवन नए-नए सफल प्रयोग करते रहे हैं। माथुर के अपने शब्दों से यह बात परिलक्षित होती है—

"जिन्दगी-भर ऐसे प्रयोगों में ही उन्होंने वह अमृत-रस पाया जो काया के कष्टों और मर्मों की आंधियों में भी उन्हें उल्लास देता था।" (दस तस्वीरें) ●●

३

जगदीशचन्द्र माथुर के नाटक : प्रयोग की पड़ाव दर पड़ाव परिणति

हर रचना अपने आप में एक स्वतन्त्र रचना होती है, किसी धरातल पर अन्यों से निरपेक्ष। जगदीशचन्द्र माथुर ने साहित्य की पर्याप्त सेवा की है और अब उन की सेवाओं का मूल्यांकन किया जाना चाहिए। अब तक उनके चार पूर्णांक नाटक, चार एकांकी संग्रह, कुछ लघु नाटक तथा रेडियो नाटक तथा कठपुतलियों पर आधारित नाटक सामने आ चुके हैं। इसलिए पड़ाव दर पड़ाव नाटकों के साथ-साथ यात्रा करते हुए उनके नाट्यलेखन के सिलसिले में प्रयोग को रेखांकित किया जाएगा। इस क्रम में केवल पूर्णांक नाटकों के ही विश्लेषण-व्याख्या को मुख्याधार बनाया जाएगा, हालांकि उन्होंने एकांकी-लेखन और नाट्येतर लेखन भी पर्याप्त मात्रा में किया है।

१ नाट्येतर लेखन के प्रयोग

माथुरजी का साहित्यिक जीवन लगभग १२ वर्ष की आयु में सन् १९२९ में प्रारम्भ हुआ। सन् १९२९ में उन्होंने "बालसखा" के लिए 'मूर्खेश्वर राजा" नामक एक प्रहसन लिखा था। इसी वर्ष उन्होंने "लवकुश" नाटक की रचना की। साहित्यिक दृष्टि से यह नाटक महत्त्वहीन है और नाट्यलेखन के लिए माथुरजी का प्रथम प्रयास मात्र था। १४ वर्ष की अल्पायु में १९३० में माथुर ने 'हेनरी फोर्ड का जीवन चरित" नामक रचना लिखी। माथुर के नाट्येतर लेखन के प्रयोग कई रूपों में हमारे सामने आए हैं — उन्होंने सन् १९४४ में बिहार के सुप्रसिद्ध सांस्कृतिक पर्व 'वैशाली महोत्सव" का बीजारोपण किया। इसी अनुक्रम में सन् १९४७ ई० में वैशाली अभिनंदन ग्रंथ नामक ग्रन्थ का संपादन भी किया। और उनकी कुछ नवीन कृतियां है—

बहुजन सप्रेषण के माध्यम, परम्पराशील नाट्य, प्राचीन भाषा नाटक संग्रह। इसके साथ उन्होंने 'बिहार थियेटर' नाम से संगीत, नृत्य और नाटक-सम्बन्धी एक उत्कृष्ट मासिक पत्रिका का व कुशलतापूर्वक अवैतनिक सम्पादन करते थे और इस तरह सांस्कृतिक पुनरुत्थान में महत्त्वपूर्ण योगदान देते रहे थे।

अतः हम कह सकते हैं कि माथुरजी विभिन्न प्रभावों को लेकर नाटक के क्षेत्र में आए। इसीलिए उन्होंने नाट्येतर लेख भी दिए हैं। जैसा कि माथुर ने स्वयं लिखा है कि वे "नई राह के आग्रही हैं और नए-नए प्रयोग कर रहे हैं।" (कलिंग विजय)। अतः हिन्दी के शीर्ष कोटि के नाटककारों में श्री जगदीशचन्द्र माथुर का प्रमुख स्थान है। भारतीय रंगमंच, लोककलाओं और सांस्कृतिक कार्यकलापों के प्रति भी उनकी गहरी रुचि रही है। उन्होंने अनेक नाटकों में प्रमुख भूमिकाएं भी अभिनीत कीं। उनके नाटक और एकांकी अक्सर ही विभिन्न रंगमंचों पर सफलतापूर्वक खेले जाते रहे हैं। उन्होंने लोकनाट्य में भी अनेक उल्लेखनीय प्रयोग किए हैं। प्रस्तुत अध्याय में उनके चार प्रमुख नाटक तथा लघुनाटकों की चर्चा की गई है। माथुरजी प्रयोगवादी कलाकार हैं और उन्होंने अपने नाट्येतर साहित्य में भी नए-नए प्रयोग किए हैं। शायद यह प्रवृत्ति पैतृक ही है क्योंकि उनके पिता शैक्षणिक एवं सामाजिक क्षेत्र में आजीवन नए-नए सफल प्रयोग करते रहे। उनमें नाटककार, निबन्धकार, आलोचक, अभिनेता, रंगमंच निर्देशक, कवि वक्ता, व प्रशासक के गुण एक साथ पाए जाते हैं। अपनी साहित्यिक प्रतिभा तथा स्वाभाविक कला-चेतना के कारण नाटक के क्षेत्र में उन्होंने विशेष सफलता प्राप्त की है।

२ नाट्य-लेखन में प्रयोग का सिलसिला

नाटककार माथुर के सभी नाटकों का कलेवर ऐतिहासिक अथवा पौराणिक है। चाहे उनके "कोणार्क" को लें, चाहे "दशरथनन्दन" या "पहला राजा" को, सभी के कथानक, घटनाएं, पात्र सभी कुछ ऐतिहासिक है। इन नाटकों में उस समय की राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का ऐसा यथार्थ चित्रण हुआ है कि उस समय का वातावरण बिल्कुल सजीव हो गया है। ऐतिहासिक कथानकों, पात्रों एवं घटनाओं को नाटककार ने अपनी कल्पना का रंग देकर सवारा है। उन की कल्पना सर्वत्र ऐतिहासिक तथ्यों से घुलकर आई है। ऐतिहासिकता के मोह में पड़कर भी नाटककार ने साहित्यिक सौंदर्य और युगीन चेतना को ठेस नहीं लगने दी है तथा उन्होंने लघु नाटकों में, विविध प्रयोग करके उनको सफल बनाया है। उनके प्रयोग का सिलसिला निरन्तर विकासमान होता रहा है। उन्होंने प्रत्येक कृति में अलग-अलग प्रयोगों के माध्यम से, अपने चिन्तन, समसामयिक जीवन-बोध, रंग शिल्प, संवेदना के द्वारा अपने कृतित्व को प्रयोग की नई दिशा भी दी। इसीलिए उनके नाटक न प्रसाद के समान ऐतिहासिक हैं, न समकालीन नाटक-

कारो की तरह यथार्थवादी और न मोहन राकेश के नाटको के समान कुछ प्रयोगवादी। बल्कि उन्होंने सब की लीक से हटकर नया रास्ता खोजा है। अत उनके प्रयोग के सिलसिले को हम निम्नलिखित शीर्षको मे विभाजित कर सकते हैं—

लघुनाटक

हिन्दी लघु नाट्यो का उद्भव सार्थक रगमच की माग से जुडा है, नाटक एव रगमच के बीच की खाई से जुडा है, *रगमच और दर्शक के बिलगाव की पीडा से जुडा* है। रगमच के लिए अभिनेय नाटको का अभाव और विस्तृत जनरुचि की माग के फलस्वरूप लघुनाट्य अस्तित्व मे आए। जगदीशचन्द्र माथुर ने अपने रगधर्मी, बहुरूपी, बहुरगी *एकाकियो और लघु नाटको के माध्यम* से एक बार फिर से नाट्यधर्मिता को सामाजिकता से, नाट्य रूप को रगमच से और नाटककार को दर्शक से—नए सिरे से जोडने की कोशिश को एक सार्थक परिणति दी है। अपने लघु नाटक '*कुवरसिंह की टेक*', '*गगन सवारी*' और *एकाकी सग्रह* के द्वारा हिन्दी एकाकी और लघुनाट्यो को शैली, शिल्प एव कथ्य की एकरसता और रेडियोधर्मिता से मुक्त कर उन्हे नाट्य-प्रयोगो की सार्थकता और विकास मे *विविध आयाम* प्रदान किए हैं।

नाटककार माथुर का प्रस्तुत नाटक "कुवरसिंह की टेक ' राजपूती जीवन की एक झांकी प्रस्तुत करता है कि किस प्रकार राजपूत लोग अपनी तलवार की रक्षा करने के लिए तथा मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए अपना सब कुछ अर्पण कर देते है। सन् १८५७ के स्वतन्त्रता सग्राम के महान योद्धा, राजपूत-कुलशिरोमणि कुवरसिंह प्रस्तुत नाटक के नायक है और उनकी वीरता, साहस, त्याग एव देशप्रेम का अद्भुत चित्रण इस नाटक मे हुआ है। सन् सत्तावन के बहादुर नेताओ मे किसी की कथा इतनी चमत्कारपूर्ण, इतनी सनसनीखेज, इतनी विशाल और विस्तृत नही है, जितनी कुवरसिंह की। इसका आरम्भ बच्चो के खेल की तरह हुआ है। इसको माथुर जी ने स्वय इसकी भूमिका मे स्पष्ट किया है—"कठपुतलियो के कलाकार सागर के लिए पिछने साल मैंने एक कहानी उसी की शैली मे तैयार की। कठपुतलिया सागर ने बनाई, गीत और वार्त्ता मैंने। कुछ महीने बाद बिहार की मोदमडलियो ने उसी कथा को खुले रगमच पर उतारा—बिहार मे और बाहर भी। नन्हें पहाडी झरने ने विकसती धारा का रूप ले लिया। सन् १९५५ म कुवरसिंह जयन्ती के अवसर पर प्रदर्शन और प्रकाशन के लिए इसे विशेष रूप से सवारा-सुधारा। और इस नाटक की रचना हो गई। नाटक की कथा अत्यन्त सरल है। आरम्भ मे ही आरा के कलक्टर मुशी कालीप्रसाद को गिरफ्तार करने की तथा कुवरसिंह के द्वारा मकान की तलाशी लेने की सूचना खदलन आकर देता है। साथ ही साथ यह भी सूचना मिलती है कि फिरगी कलक्टर ने कुवरसिंह को

गिरफ्तार कर फांसी पर चढ़ा देने की धमकी दी है। इसी बीच पटना से अंग्रेजो के डिप्टी मौलवी अजीमुद्दीन आकर कुंवरसिंह को कमिश्नर साहब का पैगाम देते हैं "बाबू साहब, अब आपकी आयु ज्यादा हो गई। स्वास्थ्य अच्छा नही रहता। कुछ दिन मेरे पास पटना आकर रहें। मैं आपकी भली-भांति देखभाल करूंगा। लेकिन कुंवरसिंह फिरंगी की कूटनीति को समझ जाते हैं और मौलवी का हाथ पकड़कर कहते हैं—"लाइए अपना हाथ। पुरानी दोस्ती के नाम पर, सच्चाई से, ईमान से मुझे बताइए कि टेलर साहब पटने में मुझे गिरफ्तार करने के लिए ही तो बुला रहा है? देखिए उसने जमीदार लुत्फ अली के साथ क्या सलूक किया? गया के जमींदार अब्दुल करीमखां पर क्या बीती?" इसके बाद कुंवर हरकिशन और रणदमन को दक्षिण की तरफ दानापुर भेजते हैं कि सिपाहियों की क्या तैयारी है। इसके पश्चात् बिठुर मे धुधुपत नाना साहब और झांसी मे रानी लक्ष्मीबाई, दोनो के पास सदेश भेजते हैं—"तैयार कीजिए शुद्ध भारका मे। कहिए कि कुंवरसिंह अपने इकरार पर कायम है। कुंवरसिंह को इस बात का ज्ञान है कि लोक बल से ही दुश्मन से टक्कर ली जाएगी।" वह गांव-गांव मे खबर भेज कर लोगो को जागृत करते हैं और कहते हैं—"बढ़ा कुंवरसिंह फिरंगी से लोहा लेगा। तलवार कुंवर सिंह की है, हाथ परजा के।" प्रजा साथ देती है लेकिन अंग्रेज धमकाते हैं—"देशी पलटन रख दे हथियार, नही तो होगा बड़ा जुलम।" देशी पलटन आग-बबूला हो उठती है और जनरल गोरे भाग जाते हैं। चारो तरफ आजादी की लहर दौड़ने लगती है। आरा पहुंचकर कुंवर ने खजाने को न लूटकर डनबर से टक्कर ली और उसे मौत के घाट उतार दिया। सबकी समानता का नारा बुलन्द किया गया। फिरंगी भला इस अपमान को कैसे सहन कर सकते थे? फिरंगी अफसर आयर तोपें लेकर फिर आरा पर चढ़ आया। भारतीय वीरतापूर्वक लड़े परन्तु हरकिशनसिंह तथा अमरसिंह के विश्वासघात के फलस्वरूप भारतीयो को पीछे हटना पड़ा। जगदीशपुर का मोर्चा रितुभजन को सौंप कर कुंवरसिंह निशानसिंह को लेकर कालपी की ओर चलते हैं। तभी अमरसिंह अपने अपराध के लिए क्षमा माग कर युद्ध में साथ देने को कहता है। यद्यपि अमरसिंह जगल का मोर्चा बड़ी वीरता से सभालते हैं तथापि अंग्रेजो ने कुंवरसिंह के महल को जला दिया और उनकी कीर्ति के मन्दिर को तोड़ दिया। अमरसिंह कहते भी हैं—"जगल हमारी जननी है, जिसके आंचल मे हमें आसरा मिलता है, जगल की हद हमारी लछमन-रेखा है, फिरंगी रावण जिसे पार नही कर पाता।" इससे परेशान होकर बिठूर के महल मे नाना साहब, तातिया टोपे और कुंवरसिंह सलाह कर रहे हैं कि फिरंगी की तोपो का मुकाबला टेढ़ा छापा मारकर ही हो सकता है इसलिए लखनऊ की फौज पर हम लोग पीछे से छापा मारें। लेकिन सलाह न माने जाने पर कानपुर मे लड़ाई हुई, हिन्दुस्तानी खूब लड़े, मगर तोपो के आगे एक न चली। दिल्ली पर फिर अंग्रेजो का

कब्जा हो गया और लखनऊ के नवाब आकर कुवरसिंह की आर्थिक सहायता करते हैं और यह सूत्रधार के शब्दों से स्पष्ट हो जाता है कि—"एक नही चार-चार। आजमगढ और अतरोलिया के पास दो दो लडाइयो मे कुवरसिंह ने छक्के छुड़ा दिए फिरंगियो के। आजमगढ से बलिया तक जाल फैला दिया भोजपुरी जवानों का। उसने तोपें छीनी, रसद छीनी। छापे मार-मारकर नाक मे दम कर दिया।" गाव गाव उनका साथ देता है किसान, रैयत, मल्लाह, ग्वाले, मुसहर, पासी, छोटी-बडी सब कौम। अतत थक हार कर अग्रेज कुवरसिंह के सिर के लिए २५,००० रुपये के इनाम की घोषणा करते हैं। गगा को पार करते समय कुवरसिंह अग्रेज अफसरो द्वारा पहचान लिए जाते है। उनकी बाहु मे गोली लगती है परन्तु मेकू मल्लाह उन्हें गगा जी मे प्राण विसर्जन करने से बचा लेता है और रितुभजन शुभ सदेश देता है कि अमरसिंह ने फिर से जगदीशपुर पर विजय प्राप्त कर ली है। अग्रेज अशान्त हो उठते हैं तथा फिर से आक्रमण करते हैं। उधर घायल भुजा को लिए कुवरसिंह भी सचेत है। अन्ततः अपनी टेक की रक्षार्थ वह कहते है, "गगा मैया, तुम्हारे इस बेटे ने बहुतेरी खून की नदिया बहाई। आज एक अनोखी भेंट लो मा। फिरगी की गोली से अपवित्र इस शरीर को पवित्र करो। यह लो मेरी भुजा।" कहकर अपनी भुजा अपने शरीर से अलग कर देते हैं। निम्न गीत से नाटक का अन्त होता है—

"वीर दुनिया मे भरे अनेक।
गगन मे तारे भरे अनेक।
चाद तो लेकिन है बस एक।
निराली कुवरसिंह की टेक।

अन्ततः हम यह कह सकते हैं कि प्रस्तुत नाटक नाटक के तत्वो को पूर्ण नही करता क्योकि इसमे अक (दृश्य)-योजना का अभाव है तथा नाटकीय भाषा का सौष्ठव भी नही है। इसे नाटककार स्वय स्वीकार करता हुआ कहता है कि 'लेकिन है यह पहाडी धारा ही, न इसमे अको और दृश्यो के बधन हैं न विद्वानो की भाषा का सौष्ठव और न जीवन के आगे वह स्पष्ट दर्पण जिसकी झलक आजकल नाटक की जान मानी जाती है।" अत हम इसे नाटक न कहकर नाटक साहित्य के अन्तर्गत ही एक नवीन प्रयोग कह सकते हैं। यह तो स्पष्ट है कि यह कोई नई साहित्य दिशा नही है क्योकि एक तो स्वय माथुर ने इसे नाटक कहा है, दूसरे अभिनेयत्व जो नाटक-विधा का अनिवार्य तत्त्व है इस कृति का मूल आधार है। इसे रगमच पर खेला जा सकता है। अतएव यह नाटक साहित्य के अन्तर्गत ही एक नवीन प्रयोग है, वास्तविकता तो यह है कि माथुर ने अपने सभी नाटको मे कोई-न-कोई प्रयोग अवश्य किया है।

'गगन सवारी' कठपुतली नाटक का वातावरण शुद्ध सास्कृतिक है। रग-

मचीय निर्देश से प्रारम्भ यह छोटा-सा दस मिनट का नाटक राष्ट्रीय एकता का एक चित्र प्रस्तुत करता है, एक मामूली जुलाहे के नौकर के माध्यम से। वह घोडे पर सवार है और उसे भगाता है क्योकि उसे जीवन मे बहुत सारे काम करने होते हैं लेकिन घोडे के अड जाने पर वह दर्शको को तमाशा दिखाते हुए कहता है। वह विलायती और देसी कपडो मे अन्तर स्पष्ट करता है और उसके पश्चात् अपने जुलाहे मालिक के लिए प्रत्येक प्रात मे जाकर राजकुमारी खोजता फिरता है। झूमनसिंह है तो जुलाहा लेकिन् वह सपने सजोता है महाराज बनने के। झूमन के शब्दो मे यह स्पष्ट हो जाता है कि—"अब यह धरती मेरी है—महाराजा झूमन बहादुरसिंह जी! कहा है मेरा सिहासन? ऊपर जमरुद की छतरी है और नीचे वह हीरे-जवाहरात का सिहासन—अब झूमन बहादुरसिंह तौलिए नही बुनेगा, नही बुनेगा। क्यो बुनू?—अब मैं सपने बुनूगा। राजसी सपने, चमकदार सपने—रेशमी सपने।" इसके बाद वह सपन मे अलग अलग प्रात की राजकुमारियो के सपने देखता है। कभी कश्मीरी, पजाबी, बगाली तथा उडने वाले कालीन पर सवार होकर वह झटपट सिंह के साथ दुनियाँ भर की सुन्दर नारिया देखने की इच्छा प्रकट करता है। पहले वह पजाबी युवती पर मोहित होता है और वहीं अपनी गगन सवारी रोक देता है। पजाबी युवती की बातें सुनकर वह घबरा जाता है और यही सोचता है कि यहा दाल नही गलेगी, भाग चलिए। उसके बाद कश्मीरी लडकी को केसर के खेत मे फूल चुनते हुए देखता है लेकिन उसकी शर्त भी मन्जूर नही होती, इस प्रकार वह घमण्डी महाराजा क्रमश राजस्थानी, गुजराती, महाराष्ट्रीय, कर्नाटक, केरल, तमिल, आध्र, उडीसा, बगाली, असमिया लडकियो से मिलता है लेकिन किसी की बात मानने को तैयार नही होता और फिर झटपट के कहने पर वह कहता है—

> "लौटती रे गगन सवारी।
> साझ घोसले द्वार खडी है, कुछ तो गीत सुना री।
> जिस पछी का बहा पसीना, उसका कठ खुला री।
> लौटी रे गगन सवारी।"

बैकग्राउण्ड बदलता है और पहला दृश्य वापिस आ जाता है जहा पेड के नीचे असली झूमन सोता है। आख खुलने पर उसकी सुन्दर पत्नी अनारो दिखाई पडती है। उसके सुन्दर कपडे दखकर वह हैरान हो जाता है। और कहता है—'मेरी बीबी, मेरी अनारो, अरे, तू तो बडी सुन्दर दीखती है।" अनारो उत्तर देती है—"सुन्दर तो हमेशा थी। लेकिन तूने मरे लिए अच्छे कपडे ही नही बुने थे। अब मुझे रग बिरगे, चमकदार, भडकीने कपडे मिले हैं। और मेरा रग निखर आया है। अनारो लोरी गाती है जिसे सुनते-सुनते झूमन सो गया था। पास आने पर झूमन उठकर लेटा रहता है लेकिन सपने मे उठने पर देखता है कि उसकी पत्नी

हाथ मे झाड़ू लेकर, एक हाथ कमर पर रखकर झाड़ू हिला-हिलाकर, झूमन को मरदूद, निकम्मे कहकर झाड़ू से पीटती है। लेकिन झूमन को समझाने पर अनारो शात हो जाती है और झूमन कहता है—"अब मेरे तौलिए नए रगो के होंगे। अब मैं चटकीले भडकीले नए डिजाइन के कपड़े बुनूगा। अब मेरे हाथों मे जादू होगा, मेरे करघे मे करिश्मा, मेरे रगो मे नशा और तू होगी मेरी नवेली, मेरी चहेती, मेरी अन्नपूर्णा।" अन्त मे रगमच से वह अनारो की कमर मे हाथ डालकर उसे ले जाता है और जमाल के इस गाने से नाटक का अन्त हो जाता है—

सरपट सरपट चल मेरे घोड़े, चटपट चटपट होवे काज।

दुनिया है ये चलती चक्की, तुझको मुझको कैसी लाज।

अर्थात् लेखक ने इस कथा के माध्यम से समाज पर करारी चोट की है कि व्यक्ति को सब कुछ मिलने पर भी वह निरन्तर अधिक पाने की इच्छा रखता है। यह नाटक विशुद्ध प्रहसन है। 'प्रहसन" मे जिस व्यग्य तत्व की सबसे अधिक अपेक्षा होती है वह व्यग्य तत्व यहा खूब मुखरित हुआ है।

रगमच-अभिनय की दृष्टि से यह एक सफल नाटक है। रगमच पर जिन घटनाओं को अभिनीत नही किया जा सकता, उनकी केवल सूचना मात्र दी गई है। रगमच के लिए अधिक सामग्री की भी आवश्यकता नही। अभिनेयता और प्रस्तुतिकरण की दृष्टि से यह प्रहसन हिन्दी मे उल्लेखनीय है। इसमे वर्तमान पीढ़ी के युवा वर्ग पर तीखा व्यग्य किया गया है। उनके प्राय सभी पात्रो मे जो विशेषता दृष्टिगत होती है वह है उनका कवि-हृदय। शायद यह नाटककार के अपने व्यक्तित्व का अश है जो सभी पात्रो मे प्रवेश कर गया है। अत प्रस्तुत नाटक मे लेखक ने विभिन्न भाषाओं को समेटते हुए एक नवीन प्रयोग किया है।

कोणार्क

वास्तव मे "कोणार्क" नाटक की रचना नाटककार माथुर ने सन् १९५१ मे की है। यह उनकी प्रथम नाट्य कृति है तथा उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। साथ ही यह सम्पूर्ण हिन्दी नाटक-साहित्य का भी एक श्रेष्ठ और उच्चकोटि का नाटक माना जाता है। इसका सृजन उडीसा मे स्थित कोणार्क के प्रसिद्ध देवालय के निर्माण और विध्वस की कथा को लेकर हुआ है। उडीसा के मदिरो की परम्परा मे यह भवन अन्तिम होते हुए भी भग्नावस्था मे पडा है। विद्वानो के अनुसार इस मन्दिर का निर्माणन कभी भी व्यवहार मे नही लाया गया। इस मदिर के खण्डित होने के सम्बन्ध मे उडीसा मे एक किवदन्ती प्रचलित है, जिसे नाटककार ने अशत ही अपने नाटक का आधार बनाया है। इतिहास का उपयोग भी उन्होंने कम लिया और "भूमिका" मे ही उन्होंने इसका उल्लेख कर दिया है। डॉ० शान्ति मलिक के अनुसार—"इसमे लेखक ने अपनी कल्पना शक्ति के उपयोग से कलाकार के युग-

युग से मौन पौरुष को, जो सौन्दर्य-सृजन के सम्मोहन मे अपने को भूल जाता है, वाणी देने का प्रयास किया है।" (हिन्दी नाटको की शिल्पविधि का विकास)

उडीसा मे स्थित कोणार्क मे १२३८ से १२६४ तक गगवशीय महाप्रताप राजा नरसिह देव का राज्य था जिन्होंने सौंदर्यपूर्ण मदिरो का निर्माण करवाया तथा वह एक अद्वितीय योद्धा, कला-सरक्षक, प्रजापालक एव उदार शासक थे। प्रणय की अठखेलियो और भाग्य के थपेडो के आधार पर कोणार्क के खडहरो का सहारा ले एक रोचक कथापट प्रस्तुत कर देने मे माथुरजी को सतोष नही हुआ। उन्हे लगा कि जैसे कलाकार का युग-युग से मौन पौरुष जो सौदर्य-सृजन के सम्मोहन मे अपने को भूल जाता है वह "कोणार्क" के खडन के क्षण मे फूट निकल आता है। चिरन्तन मौन ही जिसका अभिशाप है उस पौरुष को उन्होंने वाणी देने की कोशिश की। उन्होने व्यक्तिगत वैषम्य के साथ सामाजिक समस्याओ का गठबन्धन किया है। माथुरजी के शब्दो मे – "किंतु इन दोनो के पूरे यनानी दु खात नाटक की-सी मग्न रागिनी की प्रेरणा मुझे कलाकार के शाश्वत अन्तर्दहन मे मिली है और यह नाटक उसी का प्रतीक है।" इसी के सम्बन्ध मे सुमित्रानदन पत ने भूमिका मे कहा था कि "कोणार्क उनकी अत्यन्त सफल कृति है। हिन्दी मे नाट्यकला की ऐसी सर्वांगपूर्ण सृष्टि मुझे अन्यत्र देखने को नही मिली। इसमे प्राचीन-नवीन नाट्यकला का अत्यन्त मनोरम सामजस्य है।" नि सन्देह यह कथन सच्चाईपूर्ण है। इसका कथानक अत्यन्त रोचक एव सुव्यवस्थित ढग से पेश किया गया है। प्रथम अक मे महाशिल्पी विशु के तत्त्वावधान मे कोणार्क सूर्य देव का एक विशाल एव भव्य मन्दिर बनवाना आरम्भ होता है। आचार्य विशु भी इसे अपनी स्थापत्य कला के उत्कृष्ट आदर्श के रूप मे प्रस्तुत करना चाहते हैं तथा मदिर का निर्माण-कार्य आरम्भ होता है। इसी के दौरान महाराज नरसिंह देव यवनो को पराजित करने हेतु बगदेश चले जाते हैं तथा विश्वासपात्र महामात्य चालुक्य को राज्य का भार सौंप देते हैं। १२०० शिल्पी निरन्तर १२ वर्षों तक निर्माण म लगे रहते हैं। मदिर पाषाण के एक विशाल रथ के रूप मे बनाया गया। केवल मदिर के शिखर का निर्माण शेष है। कलश स्थापित करने की समस्या एक जटिल रूप धारण कर लेती है। किन्तु इतने मे धर्मपद सहायक सिद्ध होता है और उसी की सलाह से विशु शिखर पर कलश स्थापित करने मे सफल हुए।

प्रथम दो अको मे घटनाए एक के अन्दर एक बडी तीव्रता से घटित होती चलती हैं। १५ दिन पश्चात् महाराज नरसिंह देव यवनो को पराजित करने के बाद कोणार्क के कलात्मक सौन्दर्य को देखने के लिए राजधानी वापिस आए हैं और महामात्य चालुक्य को साथ लेकर कोणार्क की तरफ चल पडते हैं। रास्ते मे रथ की धुरी टूटने का बहाना करके महामात्य वही ठहर जाते हैं साथ ही दड पाशिक राजा को रोक लेते हैं। नरसिंह देव कोणार्क पहुचकर आचार्य विशु को

बहुमूल्य रत्नो की माता पुरस्कार मे देते हैं लेकिन वह उस माला को धर्मपद को दे देता है। धर्मपद से महामात्य के अत्याचारों का वृत्तान्त सुनकर महाराज सबके लिए सुख-सुविधा का आश्वासन देते हैं। इसी बीच मे गुप्तचर महाराज को सूचना देता है कि चालुक्य ने आपके विरुद्ध षड्यन्त्र रचा है। लेकिन महाराजा को विश्वास नही होता। इतने मे चालुक्य का दूत शैवालिक उनका पत्र लाकर महाराजा को देता है और घोषित करता है कि अब उत्कल पर महाराज चालुक्य का शासन है। यह सुनकर धर्मपद दूत से कहता है—"तो सुनो शैवालिक, अपने नए स्वामी के पास यह अगारो भरा सन्देशा ले जाओ कि कलिंगनरेश श्री नरसिंह देव महाराज, अत्याचारी विश्वासघातियो की धमकियो की चिन्ता नही करते। वे आज अकेले नही हैं, आज उनके पीछे वह शक्ति है, जिससे धरती थर्रा उठेगी, दीन निर्धन प्रजा की शक्ति, जो कोणार्क के शिल्पियों और मजदूरो मे दुर्दम सेनाओ का बल भर देगी। कोणार्क का मदिर आज दुर्ग का काम देगा। जाओ हमे चुनौती स्वीकार है।" डॉ० मलिक के शब्दो मे—"इसकी आवयविक अन्विति अत्यधिक सुन्दर एव कलापूर्ण बन पडी है। कतिपय गौण कथासूत्र—विशु और चालुक्य, विशु और धर्मपद के मोहक कथासूत्र—जोडकर नाटककार इस रचना मे रसात्मकता, प्रगाढता, अन्विति और गत्यात्मकता लाने मे काफी सफल रहा है। इसकी नाटकीय गति मे उतार-चढ़ाव की स्वाभाविकता मिलती है।"

तृतीय अक इस नाटक की चरमसीमा है। इस अक को नाटककार ने अत्यधिक सशक्त और प्रभावशाली बनाया है क्योंकि इसमे एक रहस्य का उद्घाटन होता है। विशु को यह मालूम होता है कि धर्मपद उसकी अविवाहिता स्त्री चन्द्रलेखा का पुत्र है। धर्मपद कोणार्क दुर्ग का सेनापति है। वह सभी शिल्पियो को यथायोग्य स्थानो पर खडा करके मूच्छित हो जाता है। मूर्च्छा टूटने पर वह अपनी माला के विषय मे पूछता है। विशु के पास माला होती है। विशु धर्मपद की जीवनरक्षा के लिए सब कुछ करने को तैयार हो जाता है, लेकिन धर्मपद उसे उसके कर्त्तव्य का बोध कराता है। इसके उपरात मदिर मे गुप्त मार्ग से चालुक्य सेना लेकर अन्दर प्रवेश करता है। धर्मपद शत्रुओ से टकरा जाता है लेकिन एक विशाल सेना के सम्मुख उसका वश नही चलता और चालुक्य आकर विशु को कहता है—"देखता हू तुम भी उसी राह पर जाना चाहते हो, जिस पर उस उद्दण्ड धर्मपद को भेजा गया है। उसके शरीर के टुकडे टुकडे करके इसी क्षण समुद्र मे फेंके गए हैं, जानते हो? विशु क्रोधवश कुदाला लेकर १२ वर्ष के कठोर परिश्रम से निर्मित अपनी अनुपम कलाकृति कोणार्क मन्दिर की दीवारें तथा *शिखर आदि गिरा देते हैं जिसके नीचे दबकर विश्वासघाती नीच चालुक्य* और उसके साथी मृत्यु को प्राप्त होते हैं। यह था शिल्पी विशु का बदला। आज भी वह खडहर मदिर इन घडियो और पलो मे भी कला की ज्योति का अटूट

विश्वास जगाए सो रहा है तथा उत्कल नरेश नरसिंह देव तथा महान शिल्पी आचार्य विशु के नाम को अपनी कला की चमक से प्रज्वलित कर रहा है। नाटक का कथानक रोचक एवं सुव्यवस्थित है। केवल तीन अंकों में ही संपूर्ण कथावस्तु को नियोजित कर दिया गया है। अंतिम प्रसंग में जहां विशु के चिर सुप्त विद्रोही कलाकार का रूप जाग पड़ता है, वह स्थल बड़ा प्रभावशाली बन पड़ा है। इस प्रकार नाटकीय स्थितियों के समुचित नियोजन द्वारा नाटक की प्रभावान्विति में सघनता एवं परिपूर्णता आ गई है और कहीं भी किसी प्रकार का विक्षेप उत्पन्न नहीं होता है। इसमें आश्चर्य, रहस्यात्मकता एवं उत्सुकता आदि तत्त्व पर्याप्त मात्रा में हैं। डॉ० सत्यनसिंह के अनुसार—"कोणार्क एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक है, जिसके सृजन के मूल में दो पीढ़ियों के चिंतन तथा कर्म के पार्थक्य को अंकित करना प्रतीत होता है। विशु पुरातन पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है जो शासन में साधारण जनमानस का हस्तक्षेप स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है और धर्मपद नवीन पीढ़ी का प्रतीक है जो देश एवं समाज-संचालन में साधारण जन-समाज के सहयोग का पक्षपाती है। वह एक ओर तो अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करता है और दूसरी ओर कला के माध्यम से संघर्ष के चित्रण पर बल देता है। डॉ० सुन्दरलाल शर्मा के अनुसार—"कोणार्क" ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर अंकित होते हुए साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के जोर-जुल्म के विरुद्ध कलाकारों के सशक्त विद्रोह का चित्रण करता है।" (हिन्दी नाटक का विकास)। तनेजा इस नाटक के सम्बन्ध में कहते हैं कि 'हिन्दी नाटक को रंगमंच से जोड़ने और उसे सार्थक रचनाशीलता के स्तर पर लाने का प्रथम उल्लेखनीय प्रयास है यह नाटक।" (आज के हिन्दी रंगनाटक)। वास्तव में इस नाटक में बीते हुए युग के संदर्भ में समकालीन जीवन्त भावस्थिति का अन्वेषण किया गया है। गोविन्द चातक के अनुसार—"कोणार्क की अवधारणा में बुद्धि और हृदय का अपूर्व योग है।" (नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर)। जबकि धर्मवीर भारती मानते हैं- "इसकी समस्त कथा और ये सभी पात्र हिन्दी नाटक जगत् की अपूर्व स्थिति का प्रतीकात्मक चित्र भी उपस्थित करते हैं।" डा० गणेशदत्त गौड़ कोणार्क को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखते हैं तो डॉ० विश्वनाथ मिश्र "कोणार्क" में मार्क्सवाद की झलक देख लेते हैं। डॉ० रमेश गौतम कहते हैं, "कथानक निर्माण में इतिहास-बोध का किसी प्रकार स्खलित किए बिना समसामयिक बोध इस प्रकार श्लिष्ट है कि इसे माडर्न एलिगरी या अन्योक्ति पद्धति में लिखा गया आधुनिकता का नाटक कहा जा सकता है।" (समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक)। स्वर्गीय डॉ० के० एम० मुंशी ने पत्र के द्वारा माथुर जी को कहा है —"आपके जैसे नौजवान लेखक सहज ही नाटकों को वामपंथी सिद्धांतों का वाहन बना रहे हैं।" (जगदीश चन्द्र माथुर, मेरे श्रेष्ठ रंग-एकांकी)। रणधीर सिन्हा के अनुसार—'कोणार्क की कथावस्तु योजना, जिस

काव्यात्मक प्रणाली से गठित की गई है, उसकी वैसी गहराई सभवत हिन्दी के नाटकों मे सूक्ष्मत प्रतिबिम्बित नही हो सकी है। इस दृष्टिकोण से इसकी योजना एकातिक रूप से वृन्द ही नही, वहुलित छदीय उपक्रमों की पृष्ठपोषिका भी है।"

अन्तत यही कह सकते हैं कि धर्मपद के माध्यम से नाटककार की प्रगतिशील चेतना प्रमाणित होती है, वह आचार्य से कहता है—"जीवन का सघर्ष। अपराध क्षमा हो आचार्य, आपकी कला उस सघर्ष को भूल गई है। जब मैं इन मूर्तियों मे बधे रसिक जोडो को देखता हू तो मुझे याद आती है पसीने मे नहाते हुए किसान की, कोसों तक धारा के विरुद्ध नौका को खेने वाले मल्लाह की, दिन-दिन भर कुल्हाडी लेकर खटने वाले लकडहारे की। इतने बिना जीवन अधूरा है।" बाद मे महामात्य चालुक्य द्वारा जनता के शोषण की शिकायत उत्कल नरेश नरसिंहदेव से करता हुआ कहता है—"किन्तु ग्रामो मे रहने वाले सैकडो-हजारो किसान, वन और अटीनिका के शबर आर वे अगणित मजदूर सैनिक ढोए हुए पाषाणो को हम शिल्प रूप देते हैं। देव, वे सभी आज त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। यदि वे बोल पाते तो ...।" स्पष्ट है कि कला के माध्यम से मानवता का उत्कर्ष नाटककार का उद्देश्य है। अतः आधुनिक युग मे नाटको के सामने एक ज्वलत प्रश्न उठ रहा था—समसामयिक भावबोध और रगधर्मिता का। ऐसे ही समय पर 'कोणार्क' की रचना हुई जब हिन्दी नाटक की अपूर्णता का बोध नए प्रयोगो के लिए निमत्रण दे रहा था।

शारदीया

"शारदीया" भी "कोणार्क" की तरह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर निर्मित नाट्य कृति है। वास्तव मे हिन्दी ही नही, भारतीय साहित्य की यह नाटक एक अमूल्य निधि सिद्ध हुई है। इतिहास की मर्मस्पर्शी यथार्थता, काव्य की मनमोहक रमणीयता और नाटक की प्रभविष्णुता की त्रिवेणी का समाहार इस नाटक मे सफलता के साथ हुआ है। "शारदीया" लेखक की अन्य कृतियो की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिए ही नही कि इसका कथानक हमारे इतिहास की अत्यन्त मार्मिक घटनाओ पर प्रकाश डालता है, वल्कि इसलिए भी कि इस रचना म अधिक प्रौढता है और जिन विभिन्न रसो की इसमे सृष्टि हुई है, उनका वडा ही सुन्दर और सफल परिपाक हुआ है। वस्तुत माथुर की नाट्यप्रतिभा ने इतिहास की विषयवस्तु पर नाटक लिखने के बजाय इतिहास को अपनी अनुभूति और स्वच्छन्दतावादी कल्पना का केन्द्र बिन्दु मात्र बनाया है। क्योकि प्राक्कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस नाटक को लिखने की प्रेरणा नाटककार को नागपुर म्यूजियम मे रखी एक पाव तोले की साडी से मिली। स्वय लेखक यह मानते हैं, "मन और तन को अधेरे और घुटन के बधन मे जकडने वाले इस कारागार मे इस कलाकार बन्दी को जिस अजस्र सौंदर्य से प्रेरणा के विरामहीन घूट मिले—इस

प्रश्न ने मेरी कल्पना को उत्तेजित किया और तभी नरसिंहराव और उसकी प्रेयसी की काल्पनिक मूर्तिया सजीव हो गईं। मैं जानता हू कि इस नाटक के नरसिंहराव का उस अज्ञात बदी के व्यक्तित्व से सभवत कोई साम्य नही है। शायद यह अज्ञात बदी बिल्कुल दूसरे ही रग का व्यक्ति रहा हो, किन्तु नरसिंहराव की जो मूर्ति एकबारगी मेरे मन के दर्पण मे उतरी, तो फिर खिची ही रह गई, उसे मिटाने की क्षमता मुझ मे नही है। ऐसा लगता है मानो इतिहास को टटोलते-टटोलते उन्हे नरसिंहराव जैसा व्यक्ति तो नही मिला, अन्य सामग्री इतनी प्रचुर मात्रा मे मिली कि नाटक का ढाचा आप ही आप तैयार हो गया। उनका इतिहास के साथ काल्पनिक व्यक्तित्व भी रूपाकार हो उठा है। इसलिए लेखक का यह कहना ठीक है कि—"मैंने ग्वालियर किले का वह तहखाना देखा है। उस तहखाने मे बद सौंदर्य के निर्माता बदी की काल्पनिक मूर्ति के आगे मुझे ऐतिहासिक सत्य की खोज निरर्थक जान पडी।"

"शारदीया" की कथा तीन अको और सात दृश्यो मे विभाजित है। प्रथम अक के प्रथम दृश्य मे अर्थात् नाटक का प्रारम्भ शरदोत्सव की रात्रि से होता है। पूना म १७९४ की शरद पूर्णिमा, सभी प्रमुख मराठे सरदार पेशवा की सेवा मे उपस्थित थे, शरदोत्सव पर। इस शरदोत्सव का वर्णन ग्रमेट डफ ने अपने मराठा इतिहास मे किया। पूना ही मे नाना फडनवीस की सवार टुकडी मे सखाराम घाटगे का एक साधारण पदाधिकारी था। कागल गाव का वह निवासी था जो कि कुटिल व्यक्ति था और मराठा साम्राज्य के पतन मे उसका बहुत बडा हाथ था। बायजाबाई इसी सखाराम घाटगे की पुत्री थी, ओ अनिन्द्य सुन्दरी थी। नाटक का प्रथम दृश्य पूना मे शरदोत्सव के बाद रात्रि मे सखाराम उर्फ शर्जेराव घाटगे के मकान मे घटित होता है। निजाम के युद्ध के लिए कटिबद्ध मराठा नेता और सरदारगण पूना के शरदोत्सव मे आमन्त्रित हैं। शर्जेराव की दौलतराव तक पहुच हो गई है। बायजाबाई को दौलतराव ने देख लिया है। घाटगे के मकान मे ही दो वर्ष बाद बायजाबाई और नरसिंहराव का मिलन होता है। एक दूसरे मे आए परिवर्तनो और उस समय की अपनी अनुभूतियो को वे किलोलात्मक ढग से व्यक्त करते हैं—

"नरसिंह—दो वर्ष मे चचल तितली मधुरिमाभरी मयूरी बन गई है, यह आज मैंने देखा।

बायजा— मुगल दरबार की-सी मीठी बोली कहा सीखी ?

नरसिंह— झरना किसी के सिखाने से फूट पडता है क्या ? पर हा, मुगलो का दरबार देख चुका हू, हैदराबाद मे।"

तत्पश्चात् नरसिंह उसे अपनी मा द्वारा उनकी शादी के विषय मे किए गए वायदे

की याद दिलाता है और यह बतलाता है कि उसने उसकी मा की शर्त पूर्ण कर दी है। बायजाबाई विवाह के लिए तुरन्त तैयार हो जाती है कि नरसिंह कहता है कि वह मराठा नेताओ के साथ हैदराबाद निजाम को युद्ध म पराजित करने के पश्चात् ही उससे विवाह करेगा। बायजाबाई उसकी कटार स अपनी उगली म घाव करके कहती है—"रक्त का टीका। मस्तक आगे करो नरसिंह। विजय-लक्ष्मी तुम्हारी सहायता करे—और मेरी भी।" और वह विदा हो चला जाता है। अपन पिता शर्जेराव के आने पर बायजाबाई नरसिंहराव को अपना जीवनसाथी बनाने की बात कहती है किन्तु शर्जेराव उसकी शादी दौलतराव सिंधिया से कर अपनी स्वार्थसिद्धि करना चाहता है। वह कहता है— किसका वायदा ? कैसा वायदा ? मैं नही जानता, तेरी मा ने क्या वायदा किया था, मैं इतना जानता हू कि तुझ मेरी आज्ञा माननी है, माननी होगी। नादान लडकी। तर पिता की महत्त्वाकाक्षा पागल पर ही नही रुकेगी। उस महत्त्वाकाक्षा क यज्ञ को पूरा करन के लिए अगर तेरी आहुति की जरूरत हो तो भी मैं नही झिझकूगा।

नाटक क दूसरे दृश्य म खर्दा के युद्ध से एक दिन पहले की कथा है। इस दृश्य म सरदेसाई क इतिहास म वर्णित अनेक तथ्य शामिल हैं, लकिन उनके क्रम और कालावधि म लखक न स्वतन्त्रतापूर्वक उलटफेर कर दी है। तीसर दृश्य म नरसिंह अपने मित्र सरदार जिंसवाले के साथ परशुराम भाऊ बाबा फड्के तथा सिंधिया महाराज से मिलता है और युद्ध म बहुत ही सहायक सिद्ध होता है। किन्तु शर्जेराव उसे अपने मार्ग म काटा समझकर धोखे एव फरेब के बल पर राजद्रोह का अपराध लगवाकर उसे ग्वालियर किले के तहखाने म डलवा देता है और सिंधिया महाराज से उसे मृत्युदण्ड दिलवाना चाहता है। लेकिन सरदार जिंसेवाले राजा से विनय करके उस मृत्युदण्ड के स्थान पर आजीवन कारावास क लिए मना लेता है। किन्तु शर्जेराव को यही बताया गया है कि नरसिंह को मृत्युदण्ड दे दिया गया है।

द्वितीय अक के प्रथम दृश्य मे कोई उल्लखनीय ऐतिहासिक तथ्य नही है और न दूसरे दृश्य मे किन्तु शर्जेराव की दुष्टता और कुटिलता का आभास मिल जाता है। तथा खर्दा युद्ध मे मराठा की विजय की सूचना मात्र मिलती है और पूना म सधि-वार्ता जारी है। युद्धोपरात बायजाबाई की नरसिंह से भेंट न हो सकी जिसके कारण वह उससे मिलने के हेतु अधीर हो उठती है तथा सरनाबाई परिचारिका को घर से भगाने की तैयारी करती है कि शर्जेराव सूचना देता है कि नरसिंह युद्ध मे मारा गया। इसी अक के दूसरे दृश्य म सरदार जिंसेवाले बदी नरसिंह से मिल कर इस सत्य को जान लेते हैं कि नरसिंह पर लगाया गया राजद्रोह झूठा है शर्जेराव की धूर्तता है। नरसिंह इस इस तरह स्पष्ट करते हैं— झूठ ! सरदार जिंसेवाल, यह सरासर झूठ है। मुझ नही मालूम कि गालियों की बौछार क्या

और कहा से आई, लेकिन मेरे इशारे से ? उफ् ! यह झूठ है। यह मिथ्या आरोप है ' क्या आप इस पर यकीन कर सकते हैं ?" इसी दृश्य मे सरदार जिन्सेवाले उसे यह सूचना देते है कि—"युद्ध के उपरान्त मराठा पथ और निजाम अली ने यह घोषणा कर दी है कि हिन्दू और मुसलमान एक ही परमात्मा की सन्तान हैं। उन्हे अपनी-अपनी पूजा और नमाज करने का अधिकार है। गोवध पर पाबदी लगा दी गई है।

शर्जेराव ने किस तरह दौलतराव सिंधिया को दुर्व्यसनो के पतनोन्मुखी पथ पर अग्रसर करके अपना मतलब साधा, इसका चित्र तीसरे अक के प्रथम दृश्य मे अकित किया है। क्योकि वह उससे अपने प्रधानमत्री बनने के आदेश पत्र पर हस्ताक्षर करवा लेता है तथा बदले मे अपनी पुत्री बायजाबाई की शादी की बात उसके साथ पक्की करता है। अन्तिम दृश्य मे नरसिंह ग्वालियर किले के तहखाने मे बैठा हुआ साडी बुन रहा है कि उसे गढपति से मालूम होता है कि आज नई महारानी ग्वालियर आई है। इतने मे बाहर से आवाज आने पर गढपति बाहर चला जाता है किन्तु शीघ्र ही लौटकर नरसिंह से कहता है कि महारानी तुमसे मिलने आ रही है। तुम इस साडी को भेंटस्वरूप दे देना। हो सकता है खुश होकर वह तुम्हारी रिहाई का आदेश जारी कर दे। महारानी नरसिंह को सारा वृतान्त सुनाती है कि किस तरह उसे विवश होकर शादी करनी पडी। बायजाबाई उसे रिहा करना चाहती है लेकिन वह कहता है—"बायजाबाई, जिसे तुम रिहाई कहती हो, वह मेरा कारागार होगा, महारानी, किस जीवन के लिए रिहाई, किस नियामत के लिए रिहाई ?" नरसिंह उसके बाद अपने प्रेम की निशानी महीन जाले-सी झीनी बारीक साडी उसे भेंट करता है जो उसने अपनी उगली मे छिद्र करके बनाई थी और नरसिंह इस बात को स्पष्ट करके कहता है—"उस शरद पूर्णिमा को चलते समय तुमने अपनी उगली के खून से टीका किया था। मैं उस रक्त की बूद को भूला नही था, आज मैं तुम्हे विदा दे रहा हू। तुम्हारे टीके ने मुझे बचाया। और यह साडी, यह मेरा रक्तदान यह अचल यह तुम्हारे नए जीवन मे तुम्हारी रक्षा करे।"

प्रस्तुत नाटक का कथानक सरल, सरस, सक्षिप्त, रोचक एव मर्मस्पर्शी है। गोविन्द चातक कहते हैं कि ' मानवतावादी जीवनदृष्टि से ही माथुर ने "कोणार्क" और "शारदीया ' दोनों कलाकार के शाश्वत अन्तर्दहन" को चित्रित किया है। "कोणार्क ' का विशु शिल्पी है तो "शारदीया" का नरसिंहराव महीन वस्त्र बुनने वाला कारीगर है—वह भी अपने क्षेत्र मे एक कलाकार ही है।" (नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर)। डा० लाजपतराय गुप्त के अनुसार—"शारदीया मे हिन्दू और मुसलमान दोनो जातियो को परस्पर मेल-मिलाप से रहने पर विशेष बल दिया है।" (बीसवीं शताब्दी के हिन्दी नाटको का समाजशास्त्रीय अध्ययन)।

जबकि डॉ० वापट कहते है कि— 'मराठा इतिहास की जिन घटनाओं को लेखक ने केवल पृष्ठभूमि मे रूप म प्रस्तुत करना चाहा है, अपनी प्रबलता और तीव्र नाटकीय सम्भावनाओ के कारण वे ही प्रधान हो गई हैं।" (प्रसादोत्तरकालीन नाट्य साहित्य)। जबकि डा० नत्थनसिंह लिखते है कि '- शारदीया की रचना का उद्देश्य भी सामाजिक तथा साम्प्रदायिक समन्वय प्रस्तुत करना और इस तरह राज-व्यवस्था मे समाविष्ट असतुलन तथा षडयत्रो का अनावरण करना है। बायजाबाई और नरसिंहराव के प्रेमाख्यान के माध्यम से तत्कालीन जीवन को अकित करना इस रचना की विशेषता है। नाटककार की दृष्टि सामाजिक तथा सास्कृतिक है।" जयदेव तनेजा प्रस्तुत नाटक के मुख्य विषय पर प्रकाश डालते हुए कहते है—"कलाकार और उनके विभिन्न वाह्य तथा आतरिक सम्बन्धो से उलझाव इस नाटक का समकालीन हिन्दी साहित्य की अन्य सर्जनात्मक विधाओं से तो जोडता ही है, साथ ही नाटक को मनोरजन का साधनमात्र बनाने की बजाय उसे एक गहरे स्तर पर महत्त्वपूर्ण सर्जनात्मक कार्य-कलाप का स्थान भी प्रदान करता है।" (आज के हिन्दी रग नाटक)। दूसरी तरफ डॉ० विश्वराम मिश्र के अनुसार ' इस नाटक म जातीय एकता तथा अछूतोद्धार के प्रश्न को मुख्य रूप से उठाया गया है।" (राष्ट्रीयता और हिन्दी नाटक)

अन्ततोगत्वा हम कह सकते हैं कि इतिहास के स्थूल शरीर की अपेक्षा अनुभूति और कल्पना की आत्मपरक अभिव्यक्ति "शारदीया" का मूल स्वर है। इसी का सम्मिश्रण इसे भावबोध से जोडता है। इसके मध्य से उभरने वाले मानव-मूल्य आतरिक और आत्मिक सौंदर्य के प्रतीक है। यह नाटक तामसिक और सात्विक शक्तियों के सघर्ष पर टिका हुआ है। इससे दो प्रकार की नैतिकता उभर कर सामने आई है—सामत वर्ग, शोषित वर्ग।

पहला राजा

जगदीशचन्द्र माथुर का नाम हिन्दी नाट्य साहित्य म आधुनिक और प्रयोगशील नाटककार के रूप मे समादृत है, और "पहला राजा" उनकी एक अविस्मरणीय नाट्यकृति के रूप मे बहुचर्चित है। "पहला राजा" की कथा एक पौराणिक आख्यान पर आधारित है जिसमे प्रकृति और मनुष्य के बीच सनातन श्रम-सम्बन्धो की महत्ता को रेखाकित किया गया है। यह उन दिनो की कथा है जब आर्यों को भारत मे आए बहुत दिन नही हुए थे और हड़प्पा सभ्यता के आदि निवासियो से उनका सघर्ष चल रहा था। कहते हैं उन दिनो राजा नही थे। वेन जैसे उद्दण्ड व्यक्ति के शव-मथन से पृथु जैसा तेजस्वी पुरुष प्रकट हुआ और कालान्तर मे मुनियो द्वारा उसे पहला राजा घोषित किया गया। पृथु, यानि पहला राजा। राजा, यानि जो लोकों और प्रजा का अनुरजन करे। पृथु ने अपनी पात्रता

सिद्ध की अर्थात् उनके हाथ धरती को समतल बनाकर उसे दोहने वाले सिद्ध हुए। परिणामत धरती को भी एक नया नाम मिला—पृथ्वी। माथुर जी का "पहला राजा" नाटक आधुनिक अन्योक्ति के रूप मे लिखा गया है। इसम महाराज पृथु के पौराणिक उपाख्यान की पृष्ठभूमि मे आधुनिक राष्ट्रीय समस्याओ को चित्रित करने का प्रयास किया गया है। भूमिका मे माथुर जी लिखते है—"मुख्य पात्र और प्रसग मैंने वैदिक और पौराणिक साहित्य से लिए हैं लेकिन इसलिए ही यह नाटक पौराणिक नही कहा जा सकता। पृष्ठभूमि के कुछ अश और कुछ सूत्र मोहनजोदडो हडप्पा सभ्यता की खुदाइयो से सम्बद्ध हैं पर इसी से यह नाटक ऐतिहासिक नही हो पाया। वैदिक पौराणिक साहित्य, पुरातत्त्व एव इतिहास, लोकगीत और बोलचाल—इन सभी मे मुझे प्रतीको के उपकरण मिले हैं, उन समस्याओ को प्रकट करने के लिए जिनसे मै इस नाटक मे जझता रहा हू। वे समस्याए सर्वथा आधुनिक हैं, वे उलझनें मेरा 'भोगा हुआ यथार्थ" है तो यह नाटक न पौराणिक है न ऐतिहासिक, न यथार्थवादी। यह तो एम माडर्न एलिगरी—"आधुनिक अन्योक्ति –का मचीय रूप है।' इस प्रकार इस नाटक मे मिथकीय पद्धति को आधार बनाकर विगत को आगत से जोडकर अनागत का सकेत किया गया है।"

नाटक के आरम्भ मे ही नाटककार ने ईश्वर या देव के प्रति अविश्वास प्रकट किया है। आरम्भ मे सूत्रधार ईश्वर या देव की स्तुति न करके मानव की स्तुति करता है और सूत्रधार कहता है—'आओ मेधा, कल्पना और मनन के मानसपुत्रो आओ, हम सब मिलकर वदना करें।' प्राचीनकाल से ही भारतीय चिन्तन एव मनन की विकासधारा मुख्यत धार्मिक रही है। मानव जीवन का परम उद्देश्य मोक्ष को प्राप्त करने का रहा, लेकिन आधुनिक विज्ञान इसके विपरीत है। परिणामस्वरूप नई वैज्ञानिक रोशनी म मानव जीवन की आस्तिक भावना का स्थान बुद्धि ने ले लिया और व्यक्ति, समाज तथा विश्व की समस्याओ का निदान भी वैज्ञानिक रीति से होने लगा। सूत्रधार की प्रार्थना को देखकर वही प्रवेगे कहती है—'भला नाटक शुरू करते समय आजकल कोई प्रार्थना करता है?' सूत्रधार इसे आधुनिक कहता है। फिर वह कहती है कि—"खूब! तुम समझते हो कि आज कल का साइटिस्ट, पोपट और फिलासफर तुम्हारे साथ परमात्मा की वन्दना करेगा—परमात्मा जिसकी हस्ती अब मखौल की चीज भी नही रह गई है।" सूत्रधार इस पर अविश्वास प्रकट करता हुआ कहता है—'मैं परमात्मा की स्तुति नही कर रहा था।" नाटक के दूसरे अक मे भी नाटककार ने देवत्व के प्रति अनास्था प्रकट की है एव मानव के महत्त्व को स्थापित किया है। देवताओ की स्थिति उन फूलो के समान है जो वृक्षो की ऊची डालो पर लटके हुए हैं। वे न फल बन पाते हैं, न सूखते हैं और न बीज ही देते हैं। वही सूत्रधार स प्रश्न करती है कि

"कौन हैं यह गधहीन, निर्जीव पर मनोरम प्रवचनाएं जिन्हें हम न छू सकते हैं, न खा सकते हैं, न धरती पर सो सकते हैं।" सूत्रधार उत्तर देता है—"देवता ही वे फूल हैं।' अक तीन म नाटककार ने भूचण्डी द्वारा हवन और वेदमत्रो को नितात व्यर्थ बताया है। उर्वी राजा पृथु को कहती है—"तुम्हारे देवता अधूरे हैं इसलिए कि आसमान के देवता धरती के मानवो के कधो के बिना पगु रहेंगे—पगु, निर्जीव, निर्बल।' इसके माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि वेदमत्रा से मनुष्य को इतना लाभ नही पहुचता जितना पुरुषार्थ से। अत उसने यज्ञ को महत्त्वहीन सिद्ध किया है तथा मानव के महत्त्व को प्रतिष्ठित किया है।

नाटक के तीन अको से ऐसा परिलक्षित होता है कि नाटककार वर्तमान राजनीति से पूर्णरूपेण प्रभावित है। आजादी के बाद भारत को विदेशी शक्तियो से बराबर खतरा बना रहा है और कई आक्रमण भी हुए है। नाटककार ने इस चुनौती को स्वीकार किया है। पृथु कवच से सहायता मागता हुआ कहता है— सच एक ही बात है कि सरस्वती पार के डाकू सारे ब्रह्मावर्त को घेर लेंग और हमारा तुम्हारा प्यार, हिमालय भी, विगत भी, मटियामेट हो जाएगा। इसी चुनौती को मैंने स्वीकार किया है। मेरा साथ दो।" नाटककार ने आधुनिक छिछली राजनीति की ओर भी सकेत किया है। अग का पलायन, अत्याचारी वन का वध, नए राजा क रूप म नेता की खोज और एक मत्रिमडल की स्थापना आदि घटनाए आधुनिक राजनीति से सम्बन्ध रखती हैं। शुक्राचार्य आदि ऋषि मुनि भी राजा पृथु से सौदेबाजी करना चाहते हैं। भृगुवश और आत्रेय वश की पार्टीबाजी तथा उनकी पारस्परिक स्पर्द्धा आज की दलबदी की ओर विशेष सकेत करती है। इस *नाटक मे भृगुवशी आश्रम को टोकरिया और कुदालियो की ठेकेदारी और आत्रेय* आश्रम का मजदूरा की सप्लाई की ठेकेदारी देना, इसी दुष्प्रवृत्ति और धाधली के प्रतीक हैं। इन्ही के माध्यम से आधुनिक ठेकेदारो की भी पोल खोली गई है। ठेकेदारी प्रथा के कारण ही भ्रष्टाचार का रूप सामन आता है। इस नाटक म अत्रि और गर्ग अपने-अपन ठेके के हिता के लिए पृथु की रानी अर्चना को भी भ्रष्ट करने की चेष्टा करते हैं। प्रस्तुत नाटक म राजतत्र के स्थान पर जनतत्रात्मक भावना को अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। पृथु राजा होत हुए भी जनता के सहयोग से कार्य करता है। वह अपने कधा पर धनुषबाण के स्थान पर कुदाली रखता है। इसके साथ ही नाटककार ने जाति-पाति का विरोध करके हीन जातियो के सहयोग की आशा व्यक्त की है। अन्त म नाटककार न अपने देश के कृषि-कार्य की ओर *भी सकेत किया है। इन प्रमुख समस्याओं के अतिरिक्त इस नाटक म नारी-पुरुष* सम्बन्ध, काम लालसा और पुरुषार्थो का सामजस्य, उद्योगवाद को प्रश्रय आदि समस्याओ पर भी साकेतिक रूप से विचार किया गया है। लाजपतराय गुप्त के अनुसार— '*सबसे अधिक भूमि के साथ मानव का शाश्वत सम्बन्ध, मानव का*

अदम्य उत्साह, यत्रों की सहायता से नई-नई मानवहित-सार्थक योजनाओं का प्रवर्तन, सबको बराबर समझना, सबका समान सहयोग, सभी आदर्शों का नाटक में सफल चित्रण हुआ।" कुछ समीक्षकों का विचार है कि आज की समस्याओं का आभास देने के लिए शुक्राचार्य, अत्रि, गर्ग जैसे महान ऋषियों को बिना किसी प्राचीन आधार के षड्यत्रकारी, वाग्मी राजनीतिज्ञों, कुचक्री मत्रियों, धन-लोलुप व स्वार्थी पूँजीपतियों तथा भ्रष्टाचारी ठेकेदारों की सम्मिलित भूमिका निभाने-वालों के रूप में प्रस्तुत करना नितान्त आपत्तिजनक एवं कुरुचिपूर्ण कार्य है।" दूसरी तरफ जयदेव तनेजा लिखते हैं—"पहला राजा का पृथु अत्यन्त शक्तिशाली, जीवत, प्रखर और विभिन्न रगों के योग से बना चरित्र है।" (आज के हिन्दी रग-नाटक)। वह पौराणिक आवरण में आधुनिक मनुष्य की व्यथा और सघर्ष को प्रस्तुत करने वाला, जीवन की व्यर्थता की अनुभूति स पीडित है। नाटककार ने पृथु को तीनो युगातरकारी परिवर्तनों का प्रतीक माना है। प्रथम अक मे परा-क्रमी, वीर श्रेष्ठ योद्धा, द्वितीय अक मे प्रजानायक, तृतीय अक में कर्मपुरुष का रूप—ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवत पृथु के चित्रण में नाटककार की दृष्टि नए भारत के प्रथम प्रधानमत्री जवाहरलाल नेहरू पर भी रही है।" गोविन्द चातक कहते हैं—"उन्होंने नाटक में निहित उत्तमता को अपना "भोगा हुआ यथार्थ" कहा है, किन्तु यह भोग कई स्थलों पर सतही और बौद्धिक लगता है। अन्योक्ति और प्रतीकों का आग्रह यदि नाटक पर हावी न होता तो सम्भवतः नाटककार स्थूल वय से उभर पाता और उसे परिस्थितियों और पात्रों के अन्तरग में झाँकने का अवसर मिलता।" (नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर)

'पहला राजा" प्रगतिशील सामाजिक चिंतन और आधुनिकतम नाट्यशिल्प का सुन्दर उदाहरण है। इस नाटक के कथानक से ज्ञात होता है कि पौराणिक युग में, मानवता के आधार पर सामाजिक विकास के मार्ग में परम्परा-भक्त तथा परस्पर प्रतिस्पर्द्धा सलग्न ऋषि-परिवार, धार्मिक रूढ़ियों के अधपोषक तथा राजसत्ता को अपने हित म नियोजित करने वाले तथाकथित तत्त्वदर्शी मुनि, मत्रविद् धर्मगुरु, क्षत्रिय राजा आदि विशेषत बाधक तत्त्व थे।

इस प्रकार मत्रशक्ति तथा धर्मसत्ता की पराजय होती है और श्रम-साधना तथा कर्मशक्ति की जीत। इस नाटक के पहले वर्ग के प्रतिनिधि पात्र है—अत्रि, गर्ग शुक्राचार्य और राजा वेन। दूसरे वर्ग का प्रतिनिधित्व करते है—पृथु, कवच और उर्वी। इस नाटक मे वर्तमान युग की समस्याओं का प्रस्तुतिकरण, पौराणिक युग के परिवेश के माध्यम से किया गया है। निष्कर्षत कहा जा सकता है कि प्रस्तुत नाटक एक ओर जहा सामाजिक व्यवस्था मे शासन तन्त्र के उदय और विकास की कथा है वहीं दूसरी ओर पौराणिक कथा की नई व्याख्या भी। और वर्त-

मान मे विद्रूप को व्यग्य से प्रस्तुत करने का प्रयास भी, जिसके द्वारा नेहरु युग साकार हो गया है। इस प्रकार यह नाटक उस युग की सर्वाधिक क्रान्तिकारी तथा युग-विधायक कृति मानी जा सकती है और लेखक को युग-प्रवर्तक नाटककार।

दशरथनदन

उनका अन्तिम नाटक "दशरथनन्दन" रेडियो रूपक है। इसकी कथा रामचरितमानस पर आधारित है। रचना का उद्देश्य है, रामचरितमानस की सास्कृतिक पृष्ठभूमि से पाठको का नेति सस्कार। लेखक स्वय भी नाटक के प्रारम्भ मे उद्देश्य के लिए लिखता है कि—"इस नाटक को लिखते समय मेरा प्रधान उद्देश्य यह है कि मैं गोस्वामी तुलसीदास के "रामचरितमानस" की मुख्य कथा एव उनके चुने हुए शब्दो, पदो, विचारो और दर्शन को वर्तमान समाज तक इस रूप मे पहुचा सकू कि मानस को आसानी से समझा जा सके और साथ ही मूल काव्य के रस एव भक्ति तत्त्व का भी आनन्द उठाया जा सके।" डा० नत्थनसिंह कहते है—"भारतेन्दु तथा प्रसाद की ऐतिहासिक, सास्कृतिक तथा राष्ट्रीय विरासत का नाटक क्षेत्र म सफल निर्वाह करके माथुर जी ने हिन्दी नाटक के विकास मे महान योग दिया है।" दशरथनन्दन नाटक में भक्ति की महिमा और भगवान को स्मरण करने पर विशेष बल दिया गया है। आज के युग मे यदि व्यक्ति भगवान का भजन सच्चे रूप से करे तो उसका बेडा पार हो जाता है। विश्वामित्र अपने शिष्य के साथ अपने यज्ञ के रक्षार्थ राम-लक्ष्मण को लेने के लिए अयोध्या नगरी जाते है और भगवान की महिमा का वर्णन करते हैं—

"आदि अन्त कोउ जासु न पावा।

— — — — — — — —

महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।"

वास्तव मे माथुर को प्राचीन सस्कृति और नाट्य-परम्परा मे ही विकास और प्रयोग की प्रभूत सामग्री नजर आई है। वर्ग-सघर्ष, जिसे समाजवाद के नारो से दूर करने की कोशिश की जा रही है, वर्ग-सघर्ष, जो समाज को घुन की तरह खाए जा रहा है, वर्ग-सघर्ष, जिसन आम-आदमी को कसैली अनुभूतियो से कटु बना डाला है, उसी वर्ग-सघर्ष को स्नेह शक्ति और सद्भावना से समाप्त करने का नितान्त समाजवादी और रचनात्मक प्रयास है। रामलीला की प्राचीन नाट्य शैली का एक प्रयोग शिल्प है दशरथनन्दन। रामकथा सभी वर्गों को जोडने वाला सेतु है क्योकि गाव और शहर, उच्च वर्ग और निम्न वर्ग सब म रामकथा, मानस या रामलीला के प्रति समान आस्था और आकर्षण है। गद्य सवादो के साथ-साथ सूत्रधार की चौपाइया का सुघड प्रयोग माथुर की प्रौढता का ही परिचायक है।

आज के समाज मे परिवेश का यह परायापन, जिसमे गाववालो को गवार, शहर वालो को स्वार्थी और लोलुप समझा जाता है गाव और शहर दोनो को विकर्षण से निकालकर स्नेह मे अपनत्व मे बाधना सच्चा समाजवाद होगा। दोषपूर्ण वर्तमान सामाजिक सरचना को आत्मीयता और आतरिकता से ही दूर किया जाता है। दशरथनन्दन का सामाजिक महत्त्व भी इस दृष्टि से उतना ही है जितना साहित्यिक। अत इस नाटक की शैली, शिल्प और कथ्य तीनों से ही धरातल पर आम-आदमी से जोडने की कोशिश की जा रही है। माथुर जी ने भूमिका म ही स्पष्ट कर दिया है कि इस नाटक का मूल उद्देश्य रामचरितमानस के चुने हुए शब्दो, पदो, विचारो और दर्शन को वर्तमान समाज तक पहुचाना है और मूल वाक्य के रस एव भक्ति तत्त्व का भी आनन्द उठाना है। यहा नाटककार का अभिप्राय स्पष्ट है कि वर्तमान समाज का ध्यान भौतिक तत्त्वो की ओर से हटाकर भगवान राम की भक्ति और महिमा की ओर आकर्षित किया जाए।

३ प्रयोगाध्ययन के बिन्दुओ का निर्धारण

जगदीशचन्द्र माथुर के प्रयोग कई दिशाओ मे हुए है अत हम उनके प्रयोगाध्ययन के बिन्दुओ का निर्धारण विषय, शिल्प और रगमचीय प्रस्तुति के अन्तर्गत कर सकते हैं। शिल्प और विषय तथा रगमचीय प्रस्तुति के प्रयोग मूलत कला प्रयोग के विषय हैं। इसकी खोज से नाटक की मूल वैचारिक पृष्ठभूमि खुलती चली जाती है। अत हम जगदीशचन्द्र माथुर के प्रयोगाध्ययन के बिन्दुओ का निर्धारण उनके विषयगत प्रयोग, नाट्यशैल्पिक प्रयोग, रगमचीय प्रस्तुति के प्रयोग नामक शीर्षक के अन्तर्गत कर सकते हैं। ●●

४

जगदीशचन्द्र माथुर के नाटकों में संवेदना के प्रयोग

माथुर जी के नाट्य साहित्य के प्रयोग की पडाव दर पडाव परिणति से यह स्पष्ट अवगत होता है कि उन्होंने हिन्दी नाट्य परम्परा मे सवेदना के प्रयोग किए है। उन्होंने सवेदनाओ के माध्यम से जीवन दर्शन तथा उसकी क्षयग्रस्त-ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियो से लडने की क्षमता तक पहुचने का प्रयास किया है। नाटको मे निम्न रूपो मे सवेदनाओं के प्रयोग मिलते हैं—

१ व्यक्तिवादी चेतना

माथुर की कृतियो में उनके व्यक्तित्व की पहचान सर्वथा व्यर्थ नही है। वे व्यक्तिवादी चेतना के निर्माता हैं। उनकी व्यक्तिवादी चेतना युगबोध से जुडी है किन्तु आत्माभिव्यक्ति उसका मूल स्वर है। जैसे कोणार्क मे धर्मपद कहता है—'जीवन के आदि और उत्कर्ष के बीच एक और सीढी है—जीवन का पुरुषार्थ।" अनजाने ही इन शब्दो मे उनका व्यक्तित्व उद्घाटित हो जाता है। पुरुषार्थ भारत की मिट्टी की देन है। दूसरी तरफ शिल्पी विशु को अपनी कला सूक्ष्म, अल्प और "सारे जीवन की गति का रूपक' लगती है। कला को भोगे हुए जीवन का प्रतिबिम्ब मान लेना उस व्यक्ति के लिए सहज स्वाभाविक है जिसने उसे स्वय अपने जीवन मे जिया है। क्योंकि कला की व्यक्तिवादी चेतना का सघर्ष, देश-प्रेम तथा उदात्त जीवन मूल्यो से सम्बन्ध है। कला वास्तव मे कर्तव्य की उपेक्षा करके दायित्व से मुक्ति पाना चाहती है। महाशिल्पी विशु जिस व्यक्तिवादी चेतन कला का समर्थक है, धर्मपद उसको एक प्रकार से चुनौती देता है और उसका सम्बन्ध बौद्धिकता से जोडने का प्रयास करता है। "अपराध क्षमा हो, आचार्य, आपकी कला उस पुरुषार्थ को भूल गई है। जब मैं इन मूर्तियो मे बधे रसिक जोडो को देखता हू

तो मुझे याद आती है पसीने से नहाते हुए किसान की, कोसों तक धारा के विरुद्ध नौका को खेने वाले मल्लाह की, दिन-दिन भर कुल्हाडी लेकर खटने वाले लकड-हारे की।" विशु की दृष्टि से कला चयन पर, चयन संस्कार पर और संस्कार बहुत कुछ अचेतन पर निर्भर करता है। यही कलाकारो के दो वर्ग उभरकर सामने आते हैं। एक का प्रतिनिधि विशु है, दूसरे का धर्मपद। विशु स्वच्छन्दतावादी विचारधारा की देन है साथ ही व्यक्तित्व बोध से जुडा हुआ है। लेकिन राजनैतिक विचारो से सदैव अपने आपको बचाता है—"शिल्पी को विद्रोह की वाणी से बचना चाहिए राजीव। मेरी कला मे जीवन का प्रतिबिम्ब और उसके विरुद्ध विद्रोह दोनो सन्निहित है।" किन्तु धर्मपद के विचारो की सामाजिक भूमिका कला को यथार्थ और जनजीवन से जोडने का प्रयत्न करती है जिस पर स्पष्टत प्रगतिवादी विचारधारा की छाप है। विशु व्यक्तिवादी है किन्तु धर्मपद बार-बार जनशक्ति के महत्त्व को अलापता है।

"शारदीया" भी 'कोणार्क' की भाति ही ऐतिहासिक कथासूत्र पर आधारित नाट्य कृति है। परन्तु इसका लक्ष्य इतिहास नही, ऐतिहासिक तथ्य द्वारा जाग्रत कल्पना है जो तथ्य के मार्मिक बिन्दु से इतिहास के कलेवर पर हावी हो जाती है। इतिहास के स्थूल शरीर की अपेक्षा अनुभूति और कल्पना की आत्मपरक अभिव्यक्ति ही "शारदीया" की मूल सर्जनात्मक स्वीकृति है। दोनो म सम्बन्ध दिखाई देता है। अनुभूति मूल सत्ता है और कल्पना उसे आगे बढाती है। "शारदीया" मे इस अनुभूति का केन्द्रबिन्दु व्यक्तिवाद है। "कोणार्क" की ही भाति इस नाटक के केन्द्र मे भी व्यक्ति है जिसकी प्रणय-रागिनी का स्वर सारे नाटक की आत्मा को उद्वेलित करता है। राजनीति की स्थूल घटनाओ के बीच बायजाबाई और नरसिंहराव के व्यक्तित्व प्रणय के सम्बन्धो और उनमे निहित जीवन की कविता मे जुडे हैं। नरसिंह कहता है—"नही जानता। लेकिन चाहे मैं तुम्हारे निकट होना हू चाहे तुमसे दूर, शरद की पूर्णिमा की तरह तुम मेरे मानस म छाई रहती हो। निर्मल, शीतल—मन के कोने-कोने को भासमान करती रहती हो। गहरे अन्धकार मे मैंने मुस्कराती चाँदनी का अनुभव किया है। बायजाबाई, तुम्ही तो मेरी चादनी हो, मेरी शारदीया।"

जगदीशचन्द्र माथुर अपनी नाट्य रचना मे परम्परा और प्रयोग के बीच की कडी को खोजते रहे हैं। उन्होने परम्परा को स्वीकार किया है और साथ ही अपने चिंतन, समसामयिक जीवन बोध, रग शिल्प और सवेदना के द्वारा अपने कृतित्व को प्रयोग की नई दिशा भी दी है। 'पहला राजा' पर भी यही बात चरितार्थ होती है। इसमे इतिहास पुराण की सामग्री का उपयोग हुआ है, किन्तु लक्ष्य म वह ऐतिहासिक और पौराणिक नाटको से भिन्न ठहरता है क्योकि "पहला राजा" की अवधारणा म समस्त मानवता के कल्याण का भाव सक्रिय है। पृथु

सारे युग का प्रतिनिधि है। कवच, मुनि, ऊर्वी, सूत अपने-अपने वर्गों के सक्रिय सदस्य हैं। पृथु प्रकृति के माध्यम से अपने अस्तित्व और मानव-कल्याण के लिए संघर्ष करता है। वह पृथ्वी के दोहन मे समाजवादी वितरण तथा श्रेष्ठतर जीवन-पद्धति के स्वप्न साकार करता है। अकेलेपन की पीडा, आस्थाहीनता, भय, ऊब तथा तनाव को उभारकर उसने युग मानव के जीवन को मानवीय अर्थ प्रदान किया है। माथुरजी ने सदा अपने पात्रों को विचार तथा समस्या से जोडने का प्रयास किया है। वह यह स्वय स्वीकार करते हैं कि उन्होंने व्यक्तिगत वैषम्य के साथ सामाजिक समस्याओं का गठबन्धन किया है। इसी के अनुरूप सामाजिक और युग-सन्दर्भ के साथ साथ व्यक्ति की प्रतिष्ठा की व्यक्तिवादी चेतना माथुरजी के नाटको की मूल प्रेरणा है।

"दशरथनदन" नाटक लिखते समय भी उनका प्रधान उद्देश्य था कि गोस्वामी तुलसीदास के "रामचरितमानस" की मुख्य कथा तथा चुने हुए शब्दो, पदों, विचारो और दर्शन को वर्तमान समाज तक इस रूप मे पहुचा सकें कि मानव को आसानी से समझा जा सके और साथ ही मूल काव्य के रस एव भक्तितत्त्व का भी आनन्द उठाया जा सके। "रामचरितमानस" वह कडी है जो नगरवासियों, पढे-लिखे लोगों, बुद्धिजीवियो उच्चवर्गीय समाज को गावो की बहुसख्यक जनता से जोडती रही है। दोनो खण्डो को व्यापक परम्परा के एक मिले-जुले वातावरण का आभास देती रही है। "दशरथनदन", "तुलसी-रामलीला" उसी दिशा मे लघु प्रयास हैं। माथुरजी स्वय कहते हैं कि "अनास्था की देहरी पर मडराने वाले युग का प्राणी मे, जो अस्वीकारता और भर्त्सना के युग की पीढी के सामने मानस पर आधारित नाटक प्रस्तुत करना चाहताहू—किस तरह तुलसीदास की यो बार-बार टोकने वाली वाणी को नाटकीय ढाचे मे शामिल करू।"

निष्कर्षत हम कह सकते हैं कि इसीलिए माथुर के नाटकों के सारे पात्र मानवीय सम्बन्ध के साथ व्यक्ति की निजी सत्ता को भी आलोकित करते है। उसकी निजी सत्ता म व्यक्ति की सभावनाओं तथा उप लब्धिया के बीच सामाजिक चेतना के बीच निहित दिखाई देते है। व्यक्तिवादी चेतना व्यक्ति की अपनी इच्छा, आशा आकाक्षा, जीवन पद्धति और स्वप्नमयी विचारधारा के प्रति जागरूक होती है। परम्परा के प्रति विद्रोह और नवीन के प्रति आस्था उसे दुहरे सघर्ष के लिए बाध्य करती है। इस प्रकार जगदीशचन्द्र माथुर अनुभूति मे व्यक्तिनिष्ठ होन पर भी दृष्टिकोण म सामाजिकता का अद्भुत समावेश करते दीखते हैं। शिव और अशिव, शोभन और अशोभन दोनो की ओर उनकी दृष्टि गई है।

२ शहरी ताप से विमुक्ति

जगदीशचन्द्र माथुर के नाटको मे शहरी जीवन की विकृतियों से दूर एक स्वच्छन्द,

निरावरण कलुषहीन जीवन के प्रति तीव्र आग्रह मिलता है। प्राकृतिक, अनगढ और कलुषहीन लोकजीवन की मूल गध की तलाश उनकी नाट्य कृतियो मे इधर-उधर मिलती है। उनके नाटको म जैसे पात्र अपनी पूर्ण गरिमा से आए है जो तथाकथित शहरी सभ्यता के प्रखर ताप से विमुक्त वन्य तथा ग्रामीण वातावरण की छाया मे जीवन के उल्लास को बिखेरते हैं। "कोणार्क" मे महाशिल्पी विशु की प्रेयसी बनाने के लिए इसी भाव से उन्होंने जगली शबर जाति की कन्या को चुना और विशु सोमू को कहता है—

'हा सोमू! वन-वन की कली थी। जगली शबर जाति की कन्या। चट्टान को फोड़कर बहने वाली निर्द्वन्द्व, निष्कलुष जलधारा है।'"
उसका नाम था सारिका। हमारे नगर मे हाट के दिन, अपने गाव वालो के साथ जगली छाल, जड़िया बेचने आती।"

"शारदीया" मे गाव की जिन्दगी पर शहरी जिन्दगी और राजनीति के आक्रमण का आकलन हुआ है। उदाहरण के लिए "कागल" को ही लें। यह गाव जहा बायजाबाई पैदा हुई और बचपन से नरसिंह के साथ खेली-कूदी थी, शर्जेराव बायजाबाई अथवा नरसिंह के हृदय मे अलग-अलग ढग का राग लिए हुए हैं।

बायजाबाई बडे आदमियो से मित्रता हो गई है। कागल की याद तो क्या आती होगी?

नरसिंह बायजाबाई, मैं कागल गया था। कागल, हम लोगो की जन्म-भूमि कागल, हम लोगो की पुण्यस्थली! लेकिन देखा कि वह न कागल है और न तुम।

बायजाबाई (उदास) तुमने सब सुना होगा।

नरसिंह सब कुछ सुना और देखा। तुम्हारे पिताजी के गढ पर यशवन्त-राव जमे हुए है। उल्टे पाव लौट आया।

बायजाबाई बाबा कहते हैं, जब तक कागल को फिर से न पा लूगा तब तक सखाराम नाम नही।

नरसिंह • और तुम? कागल की याद तुम्हे नही आई?

बायजाबाई नरसिंह, अगर मा रहती और तुम न आते तो मैं बाबा के पाव पडती और कहती कागल न छोडो। न सही किलेदारी, लेकिन अपना गाव न छोडो।

इससे यही सिद्ध होता है कि कागल शर्जेराव के लिए उसकी विजय का स्तम्भ है तो बायजाबाई के लिए अरमानो की समाधि। ऐसा लगता है कि बायजाबाई के हृदय मे गाव, आत्मीयता, सहजता, निष्ठा, और नैतिकता का एक निश्चित प्रतिमान

बनकर जैसे बैठा हुआ है।

"पहला राजा" मे माथुरजी ने यह स्पष्ट करना चाहा है कि गाव के लोग भी बहुत जागरुक हो गए हैं। जैसे अग्नि गर्ग को सम्बोधित करते हुए कहता है कि—"दक्षिण और पूर्व के जनपदो मे गाव-गाव की खाक छान आया, अनेक मुखियो से मिला पर कोई काम नही देता—आश्चर्य है कि अत्याचारी का मुर्दा पूजन का फूल बन गया है। गर्ग— वही बात। पश्चिम के ग्रामीण मुझसे बोले— आप ही लोगो ने बेन की हत्या की है, आप ही अपने आश्रमो और यज्ञो की रक्षा का भी इन्तजाम कीजिए।"

दूसरी तरफ नाटककार ने पृथु के माध्यम से गावो की रक्षा कैसे हो, उसके नियम भी बताए थे। पृथु कहता है कि अगर मैं राजा हू तो गावो की भी रक्षा करूगा। वह सूत और मागध को आदेश देते हुए कहते हैं—"मैं उनकी रक्षा करूगा। हर गाव के दस-दस नौजवान मेरे साथ रहेगे। आप लोग अनूप प्रदेश को गढ बनाइए। जाइए और वहा अपनी भुजाओ के प्राचीर बनाइए।" गाव के लोग जागरूक ही नही, वह अपने अधिकारों को भी मागते हैं। वह अब किसी के भी हाथो कुचले जाने के लिए तैयार नही हैं। वह अकाल के प्रकोप से डरते नही हैं। वह रानी अर्चना से अपना न्याय चाहते हैं और बेचैन होकर तरह-तरह के नारे लगाकर उपद्रव करने पर तुले हैं।

अक दो मे रानी अर्चना और दासी के सवादो मे यह स्पष्ट हो जाता है—

दासी "वे कहती हैं कि पेड के कोटर के भीतर सुलगती आग जैसे बाहर फौरन जाहिर नही होती, वैसी हमारी भूख की ज्वाला है। पर उनके नारे, उनकी आखो का रोष, उस भीतरी ज्वाला का धुआ है।"

इसके साथ ही अक तीन मे माथुर जी ने गावो का नवीनीकरण रूप भी दिखाया है। गावो का पुनर्निर्माण होने लगा। और गाव की सुविधा के लिए नए-नए साधन जुटाए जाने लगे। पृथु गाव से आदमी इकट्ठे करके बाध का निर्माण करवाते है और उसके बदले मे उन्हे अनाज का प्रलोभन भी दिया जाता है। लेकिन बाध पूर्ण होने से पहले ही टूट जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत नाटक के सभी पात्र शहरी ताप से मुक्त हैं परन्तु वह पूरी तरह गाव के नव निर्माण मे जुटे हुए हैं, गाव की समस्याओ को सुलझाने मे लगे हुए है। इसमे कोई सदेह नही है कि ग्राम्यजीवन की सस्कृति, उल्लास की वाणी और नृत्य की थिरकन पर ही व नही रीझे हैं, उसमे घुसे शोषण, कटुता और विसगति पर भी उनकी दृष्टि गई है। शहरी वातावरण मे विशेष खोखलापन, धोखा और कृत्रिमता छिपी है इसे जगदीशचन्द्र माथुर ने बडे सयम और कौशल से उघेडकर रखा है।

३ रोमान

माथुर के कृतित्व का विश्लेषण करें तो भाव-प्रवणता, रोमान, प्रकृति-प्रेम, सौदर्य-पिपासा, प्रणयानुभूति, करुणा और कल्पनाशीलता उनके व्यक्तित्व की कुजी प्रतीत होती है। माथुर के सपूर्ण नाटको मे भावुकता, रोमान और कवित्व का जो झीना आवरण मिलता है उसका मूल स्रोत छायावाद में ही निहित है। लेकिन इस के साथ कठोर यथार्थ का मेल हुआ और उनकी नाट्यकृतियो मे सामाजिकता का उन्मेष हुआ।

कवित्वमयी भाव-प्रवणता

उनके नाटको मे कवित्वमयी भाव-प्रवणता की प्रधानता है। लेकिन काव्यमय वातावरण की सृष्टि करते हुए उन्होने इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा है कि काव्य नाट्यस्थितियो के बीच से उभरे। नाट्यानुभूति को काव्यानुभूति के समकक्ष बनाने मे माथुर को अपूर्व सिद्धि मिली है। उन्होने कविता लिखी, न लिखी, कविता सदा उनमे, उनके गद्य मे रस-बस कर रही। उनके नाटक उसी अवरुद्ध कविता को उडेलते मिलते हैं। उनके नाटको मे मानव हृदय की अलिखी, अजानी कविता अनाम और अज्ञात भगिमाओ मे बिखरी दिखाई देती है। उनका काव्यात्मक स्तर जीवन के पलायन का द्योतक न होकर उसके सौंदर्य और सत्य की उपासना बनकर प्रस्फुटित हुआ है। हृदय तत्त्व की प्रधानता के कारण "कोणार्क" रगमच का काव्य बन पडा है। यह काव्य तत्त्व ऊपर से आरोपित न होकर स्वय नाटक की कथावस्तु नाट्यस्थितियो, कथ्य और रचनातन्त्र मे से पैदा हुआ है। प्रथम अक के उपक्रम की कविता महाशिल्पी विशु की बिखरी हुई कला का अभूतपूर्व चमत्कार है। सौम्य श्री दत्त की उक्तियों मे विशु के जीवन का काव्य उद्घाटित हुआ है। वह काव्य जो उसने जीवन म जिया है और फिर जिसे अपने स्थापत्य में पुनर्जीवित किया है। सूर्यदेव और कुन्ती का प्रसग, विशु और शवर कन्या सारिका के प्रेम-सम्बन्ध और उसकी विडम्बना को पूरे काव्य तत्त्व के साथ उभारा है—' जब मुझे ज्ञात हुआ कि वह मा बनने वाली है तो कुल और कुटुम्ब के भय ने मुझे ग्रस लिया। नदी पर बढती साझ की तरह उस भय की तन्द्रा मेरी बुद्धि पर छा गई और मैं भाग आया, सारिका और उसके अज्ञात ससार से दूर, बहुत दूर, भुवनेश्वर में देव मन्दिर की छाया में—कला के आचल में अपना मुह छिपाने।" नाटका म जो कविता उभरती है, वह गति की अपेक्षा स्थिर रम जाने के लिए ही अपना महत्त्व सिद्ध करती है। "कोणार्क" की ही भाति ' शारदीया" की मूल अवधारणा भी काव्य के स्तर पर हुई है इसलिए उसका केन्द्रीय तत्त्व काव्यात्मक अनुभूति ही है। जो नाट्यस्थिति पात्र, वातावरण और सवाद सभी का एक रूप सस्कार करती दिखाई देती है। नरसिंह कहता है—"लेकिन चाहे मैं तुम्हारे निकट

होता हूं, चाहे तुमसे दूर, शरद की पूर्णिमा की तरह मेरे मानस मे छायी रहती हो। निर्मल, शीतल—मन के कोने-कोने को भासमान करती रहती हो। गहरे अंधकार में मैंने मुस्काती चादनी का अनुभव किया है, बायजाबाई, तुम्ही तो मेरी चादनी हो, मेरी शारदीया।"

"पहला राजा" मे पृथु और पृथ्वी से सम्बद्ध सारी नाटकीय स्थितिया, सघर्ष की शक्तिया तथा उनसे उभरती जीवन-दृष्टि सब मानवीय आस्था को व्यक्त करती है। कुशा और हुंकारो से मुनियों द्वारा वेन की हत्या, देह मथन, ऋषि-मुनियों का मत्र-फल और वर्चस्व, आर्य-दस्यु सघर्ष, पृथ्वी का गौ रूप मे दोहन आदि प्रसग एक विलक्षण काव्यमयी मनोस्थिति मे ले जाते हैं। लेकिन माथुर ने प्रस्तुत नाटक मे काव्य को अधिक गहराई से नही लिया है। आधुनिकता के आग्रह के कारण वह इस तत्त्व से बचे हैं जबकि पिछले नाटक उनकी इस प्रतिभा की ही देन रहे हैं। "दशरथनन्दन" नाटक माथुर जी का "रामचरित मानस" की पूर्ण कथा पर आधारित है। मानस को आसानी से समझने के साथ ही इसमे काव्य-रस एव भक्ति-तत्त्व की प्रधानता है। मूल का पाठ भी वाचक करते है। उनमे एक वाचक गद्य कहता है और पात्र उसे दोहराते हैं। गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। कथा-प्रसगो के ये प्रमुख माध्यम रहे हैं। फिर भी मानव मन की ख्वाहिशो, हसरतो, अरमानो और अबूझी पीडाओ को वे कवित्वमयी भाव-प्रवणता के माध्यम से पाठकों तक पहुचाने मे सफल हुए हैं।

प्रणयानुभूति

प्रणयानुभूति का स्वर माथुर जी के नाटको म विभिन्न रूपो मे आया है। नर-नारी के रूपो का समन्वय हुआ है। उन्होंने शुद्ध मानव की कल्पना की है। नाटको मे नारीत्व तथा पुरुषत्व दोनो पर बल दिया है। सबसे पहले नारी का मातृत्वबोध रूप हमें "कोणार्क" में धर्मपद की धुधली आखो में सूर्य की अन्तिम किरणो में झाँकती दिखाई देती है और पिताविशु और धर्मपद पुत्र का अप्रत्याशित मिलन वात्सल्य के बिन्दु को करुणा जैसा विस्तार और मार्मिक चुभन प्रदान करता है। यह विशु और धर्मपद के सवाद से स्पष्ट हो जाता है—

> "धर्मपद . सध्या की किरणें सिमिट रही हैं आर्य ! लगता है जैसे मा बुलाती हो।
>
> विशु . नही धर्मपद, हम उसे बुलाएगे—क्या तुम्हारी मा कल भी नही आएगी? कल जब कोणार्क और कलिंग के ऊपर से बादल छट जाएगे। कल हमारे महाराजा नरसिंहदेव विजयी होंगे और फिर कोणार्क के प्रागण में मेरा और तुम्हारा—पिता और पुत्र का अद्वितीय अभिवादन होगा।"

शारदीया के प्रथम अक के प्रथम दृश्य में बायजाबाई और नरसिंहराव के सवाद के माध्यम से मातृत्व का स्वर गूजता है—"मुझसे बोली—नरसिंह तू किलेदार की लडकी से ब्याह करना चाहता है तो कुछ घर की पूजी भी तैयार कर। मैंने कहा वह मैं कर लूगा, तो बोली, जब वह कर लेगा तो बायजाबाई भी तेरी हो जाएगी। दूसरे दिन मैं चुपचाप घर से चल दिया।'

'पहला राजा" में वेन की हत्या के बाद मा सुनीता उसके शव पर लेपन करती है। वह समझती है कि इस लेपन से वह सजीव लगेगा और उनके शब्दो में उसका वात्सल्य भाव स्पष्ट होता है—'ओ, मृत्युलोक के देवताओ! लाओ मेरे प्रतापी पुत्र वेन के प्राण वापस करो। मैंने उसकी देह पर यह चमत्कारपूर्ण लेपन कर, उसे वापस आने वाले प्राण के योग्य बना रखा है। आओ, लौट आओ वेन की आत्मा!"
'दशरथनन्दन' मे सतान प्राप्ति के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ होता है जो लेखक वसिष्ठ नामक पात्र के द्वारा स्पष्ट करवाता है। उन्ही के आशीर्वाद से राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न चार बालक प्राप्त हुए हैं और महामुनि विश्वामित्र उनका लेकर जा रहे होते हैं तो दशरथ कहते हैं—'पितृ! मैं यह कैसे भूल गया कि अवध नरेश तुम दोना का पिता भी है? इधर आओ राम! इधर आओ लक्ष्मण! मेरे निकट तुम्हे हृदय स तो लगा लू।"

माथुर ने नाटका म यह भी स्पष्ट करना चाहा है कि नर नारी दोना एक-दूसरे के पूरक तत्त्व है। 'शारदीया' म प्रणयरागिनी का स्वर सारे नाटक की आत्मा को उद्वलित करता है। राजनीति की स्थूल घटनाओ के बीच बायजाबाई और नरसिंहराव के व्यक्तित्व प्रणय के अत सम्बन्धा से जुडे है। दाना के प्रेम को नाटककार ने गहराई और सयम के साथ व्यजित किया है। दोना की ग्रामीण बाल्य जीवन की स्मृति मे अकित प्रेम जब यौवन की देहरी पर पैर रखता है तो 'चचल तितली मधुरिमा भरी म्यूरी' बन जाती है और 'परिया का शहजादा-सौदागर'। उनके प्रम म ना वेग है ना काम की तरलता। केवल एक बाल-सुलभ सरलता है पवित्रता है। सरनाबाई की उक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है—'नही बाई, तीसरे ढग का भी बचपन होता है, नई जवानी और उगते प्रेम का यह बचपन, जब हर पल छिन को पकडकर रख छोडने की तबीयत चाहती है, हर घडी को बरजोरी मूरत बनाकर अपने पास बसा लेने को मन चाहता है चाहे काटे चुभोए चाहे फूल बिखेरे। प्रणय की यह शैशव सरलता है लेकिन सिन्धिया म निरतर देह की प्यास है जो इस शैशव सरल प्रम की धाराओ म बाध देता है। 'पहला राजा म लेखक ने अचना को ऐश्वय, भाग और काम के प्रतीक रूप म देखा है और उर्वी उनस भिन है। वह अमृत रूप बनती है और पृथु को जीवन रस से परिपूर्ण करती है, लेकिन कम की प्रेरणा से वह पृथु को अपने म समेट नही पाती।

कर्म के अभाव की पूर्ति उर्वी करती है, नारी के मर्म की प्रेरणा और काम के सुख की भूख पुरुष मे चिरन्तन है, इसके लिए नारी के दो रूप हैं–पत्नी और प्रेयसी, अर्चना और उर्वी उन्ही रूपो म आई है।

प्रकृति और सौंदर्य प्रेम

माथुर जी के रोमान के अन्तर्गत प्रकृति और सौंदर्य-प्रेम के भी दर्शन होते है। उनके नाटकों मे प्रकृति के प्रति एक अपूर्व स्नेह मिलता है। उन्होंने प्रकृति को सूक्ष्म और सश्लिष्ट रूपो मे देखने की कोशिश की है। "शारदीया" मे हृदय की चादनी बिखरी पडी है। पत्थर की दीवारो के बीच बदी नरसिहराव अपने एकात को सवेदना के बल पर तारो की ज्योति, पक्षियो की चहक और गुलाब की कलियो से भर देता है। उन्होने प्रकृति और मानव के आतरिक जीवन को समीप लाने का प्रयत्न किया है। सामान्यत जगदीशचन्द्र माथुर के नाटको का कथ्य जीवन की अर्थवत्ता, जिजीविषा और मानव-मूल्यो से सम्बद्ध है। उनमे प्रकृति और प्राकृतिक जीवन के प्रति सहज ममता तो व्यक्त हुई ही है साथ ही उसका उल्लास भी मुखर हुआ है। यह उल्लास उनके नाटको का मूल स्वर है। माथुर ने इसकी भी व्याख्या की है कि प्रकृति मनुष्य के सुख-दुख मे अपने को किस प्रकार अभिव्यक्त करती है। वह कहते हैं—"कला स्थूल प्रकृति और मानव के आतरिक जीवन को समीप लाने की कोशिश करती है। कलाकार प्रकृति के विभिन्न अगो मे—चाद, बादल, वृक्ष, फूल, पत्तिया मे वही लयताल खोज पाता है जो व्यक्ति के अन्तस्तल को स्पदित कर दे।" (*बोलते क्षण*)। नरसिंहराव की उक्ति भी इस सदर्भ मे सार्थक कही जा सकती है—"बायजाबाई, इस तहखाने का आकाश सीमाहीन है, इसकी टिमटिमाती ज्योति मे सहस्रा सूर्य भासमान है। क्या तुम भी नही समझोगी मेरी इस सीधी गहरी बात को?'

'पहला राजा" म मानव और प्रकृति के सघर्ष को आदिम मानव की परिस्थितियो के बीच व्याख्यायित किया गया है। प्रकृति के विराट और रहस्यपूर्ण पहलुओ को देवताओं के रूप म देखकर मानव के स्वर मे काव्य और नाटक का स्वर पूरा है। यह काव्यात्मक स्वर जीवन के पलायन का द्योतक न होकर उसके सौन्दर्य और सत्य की उपासना बनकर प्रस्फुटित हुआ।

४ आधुनिकता का नवीन बोध

माथुर के नाट्य-लेखन मे समकालीनता का नया बोध अज्ञात रूप से प्रस्फुटित होने लगता है। ऐसे ही समय पर "कोणार्क" की रचना हुई तथा हिन्दी नाटक की अपूर्णता का बोध नए प्रयोगो के लिए आमन्त्रण दे रहा था, यही नाटक परम्परा को नए स्वर से जोडता है। इसीलिए हम डॉ० धर्मवीर भारती की इस

उक्ति से पूरी तरह सहमत है कि "परवर्ती नाट्य सृजन मे कई धरातलो पर विविध प्रयोग होने पर भी "कोणार्क' सकेतात्मक समकालीनता का प्रारम्भिक बिंदु का एक उदाहरण सिद्ध होता है।" (नटरग, अक-१)। कोणार्क का दूसरा और तीसरा अक समकालीनता का भी यही सकेत देता है 'विशु" पुरातन पीढी का प्रतिनिधि है और धर्मपद नवीन पीढी का प्रतीक है जो देश एव समाज-सचालन मे साधारण जन-समाज के सहयोग का पक्षपाती है। धर्मपद के माध्यम से नाटककार की प्रगतिशील चेतना प्रमाणित होती है जबकि "शारदीया" मे आधुनिकता का नवीन बोध भी बडी उज्ज्वलता से उभरता है। वह खर्दा युद्ध की सधि की शर्तों मे निहित एक उदात्त कथ्य है, जो समसामयिक लगने पर भी ऐतिहासिक है। लेकिन इस नाटक का उद्देश्य सामाजिक तथा साप्रदायिक समन्वय प्रस्तुत करना है और राज-व्यवस्था मे समाविष्ट समन्वय प्रस्तुत करना, राजव्यवस्था म समाविष्ट असन्तुलन तथा षड्यन्त्रा का अनावरण करना, वायजाबाई और नरसिह के प्रेमाख्यान के माध्यम से तत्कालीन जीवन को अकित करना इस रचना की विशेषता है। "पहला राजा" उनकी अगली सीढी है जिसम इतिहास, मिथक का उपयोग आधुनिकता के बोध को उजागर करता है। आधुनिकता के अनेक अर्थों मे एक अर्थ समसामयिकता के रूप मे भी उभरा है। इस दृष्टि से देखें तो "पहला राजा' मे निश्चयत आधुनिकता का एक स्तर सामने आता है। डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने ठीक ही कहा है कि "गर्ग, अत्रि, शुक्राचार्य, सूत, मागध, पृथु, कवच, सुनीता, दासी, अर्चना और उर्वी और हर पात्र एक अन्योक्ति है। एक सकेत है जिसके माध्यम से नेहरू-युग की आधुनिकता या आधुनिकता का पहला दौर उजागर होने लगता है। इस तरह नाटक मे समकालीनता उनके आधार पर उभरने लगती है। आधुनिकता के एक और अर्थ मे भी 'पहला राजा' म कई सकेत मिलते हैं। ईश्वर को स्वीकार ना करना ही आधुनिक भाव-बोध का पहला चरण है। ईश्वर को नकारने वाला बोध मानव के आत्मबल को जगाता है और भाग्यवाद की पराश्रयी मनोवृत्ति को पराजित करता है। इस नाटक म मुनि देवताओ के मुखापेक्षी हैं किंतु पृथु उस विश्वास को भावना और देवताओ के कर्म दोनो स्तरो पर खडित करता है। आधुनिकता कृति के रचनात्मक स्तर को भी सम्बद्ध रखती है, क्योकि उससे यह देखा जाता है कि कोई कृति अपने लिए अनुरूप ढाचे और शिल्प की तलाश कर पाई है या नही। निष्कर्षत यह कह सकते है कि अगर हम आधुनिकता के विरोध म नही पडते तो "पहला राजा" को आधुनिकता से युक्त नाट्यकृति कहा जा सकता है।"

(इन्द्रनाथ मदान, आधुनिकता और हिन्दी साहित्य)

५. लोक-संस्कृति

माथुर जी अपनी कामकाजी जिन्दगी में ग्रामीण जीवन के निकट सम्पर्क में आए और वहीं उन्हें धरती के असीम सौन्दर्य और लोकजीवन तथा संस्कृति की अक्षय निधि का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। उन्होंने लोकजीवन को लोकसम्पर्क से जान-पहचान कर गहराई से उसका मूल्यांकन भी किया है। लोकजीवन और संस्कृति के प्रति अपने इस मध्यमवर्गीय अथाह प्रेम को उन्होंने जीवन के अनुभवों तथा भोगे हुए यथार्थ से सींचा है। उन्होंने केवल ग्राम-जीवन की संस्कृति, उल्लास की वाणी और नृत्य की थिरकन को ही नहीं समेटा बल्कि उसमें घुसे शोषण, कटुता और विसंगति पर भी उनकी दृष्टि गई है। इसकी पीड़ा "कुंवरसिंह की टेक" से लेकर 'दशरथनंदन' तक देखी जा सकती है। उनके लेखन में लोक-जीवन और कला के प्रति विशेष आग्रह मिलता है। उन्होंने केवल लोक-संगीत को ही नहीं, लोकजीवन तथा सर्व-सामान्यवर्ग को भी अधिक महत्त्व दिया है। माथुर जी अपने सभी नाटकों में लोकजीवन के शब्दों के पारखी हैं और उन्होंने शब्दों को मोतियों की तरह इकट्ठा किया है। "कोणार्क" में अटारी, फुहार, खटना, "शारदीया" में छिन, डगर, झरोखा, "पहला राजा" में टोह, बयार, झकोरा, ठठरी आदि। नाटकों के संवाद वर्तमान बोलचाल की भाषा में हैं, परन्तु गीतों पर लोकशैली की छाप अवश्य है। कुंवरसिंह की टेक में तथा "गगनसवारी" में नायक जिस-जिस प्रदेश में जाता है वहां उसी प्रदेश की लोक-भाषा में गीत गुनगुनाता है तथा उसी भाषा में काव्यमय शैली में संवाद आरम्भ करता है।

६ सामाजिकता और मूल दृष्टि

माथुर जी मूलतः सामाजिक जीवन के उदारचेता द्रष्टा हैं। सामाजिक समस्या को भी रागात्मक अनुभूति के धरातल पर अनुरंजित करते दीखते हैं। इसी-लिए वे अपने सामान्य और मध्यम वर्ग के समस्याग्रस्त पात्रों के प्रति अपार ममता लिए हुए लगते हैं और अपने साहित्य में उनकी प्रतिष्ठा करके ही सुख का अनुभव करते हैं। इसीलिए उनके कृतित्व के पीछे भोगे हुए यथार्थ का सतत आभास मिलता है। उन्होंने रोमानी भावना के साथ कठोर यथार्थ का मेल किया है और यही कारण है कि उनकी नाट्यकृतियों में सामाजिकता का उन्मेष किया। मध्यवर्ग के अभावों और स्वप्निल आकांक्षाओं से वे परिचित भी थे। उन्होंने उस की पीड़ा और विसंगति को देखा। 'कोणार्क" में शिल्पियों के विद्रोही स्वर और "शारदीया" में नरसिंहराव पर हुए अत्याचार की पीड़ा में प्रतिकार का भाव मुखर है, किन्तु उनमें स्वप्न-संपदा, संघर्ष के पुरुषार्थ का आत्मबल भी कम नहीं। उन्होंने अपने लेखन में एक साथ परम्परा और चुनौती को स्वीकारा है। उनके नाटक ऐति-

हासिक है लेकिन इतिहास के माध्यम से तीव्र सामाजिक बोध को उजागर किया है। कर्त्तव्य की भावना उनके अन्दर समा गई है। यही कारण है कि ऐतिहासिक नाटको को वह सामाजिक बोध से जोड देते हैं। "कोणार्क" उनका प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक है, जिसके सृजन के मूल में दो पीढियो के चिंतन तथा कर्म के पार्थक्य को अकित करना प्रतीत होता है। धर्मपद देश एव समाज-सचालन में साधारण जनसमाज के सहयोग का पक्षपाती है। वह एक ओर तो अपने अधिकारो के लिए सघर्ष करता है और दूसरी ओर कला के माध्यम से मानवता का उत्कर्ष स्पष्ट करता है। "शारदीया" की रचना का उद्देश्य भी सामाजिक तथा साम्प्रदायिक समन्वय प्रस्तुत करना और इस तरह राज-व्यवस्था में समाविष्ट असतुलन तथा षडयत्रो का अनावरण करना है। बायजाबाई और नरसिंह के प्रेमाख्यान के माध्यम से तत्कालीन जीवन को अकित करना इस रचना की विशेषता है। नाटककार की रचना-दृष्टि सामाजिक तथा सास्कृतिक है। "पहला राजा" में प्रगतिशील सामाजिक चितन और वर्तमान युग की समस्याओ का प्रस्तुतिकरण, पौराणिक युग के परिवेश के माध्यम से व्यक्त हुआ है। इस प्रकार "पहला राजा" उस युग की सर्वाधिक क्रातिकारी तथा युग-विधायक कृति मानी जाती है। अलगाववाद और अस्तित्ववादी दर्शनो के युग मे, जहा विसगति, अजनबीपन, सत्रास, मृत्युबोध और अकेलेपन की चेतना का प्राधान्य हो, वही सामाजिक चेतनापरक साहित्य का सृजन एक ऐतिहासिक महत्त्व की घटना ही माना जाएगा। "दशरथनन्दन" रचना का उद्देश्य है रामचरित की सास्कृतिक पृष्ठभूमि से पाठको का मौलिक सस्कार। अत यह भी एक सामाजिक कृति है तथा यही नाटककार की मूल दृष्टि है। अत इस प्रकार सवेदना के प्रयोग उनके नाटको मे बिखरे हुए मिलते है। ●●

५

जगदीशचन्द्र माथुर के नाटकों में विषयगत प्रयोग

जगदीशचन्द्र माथुर के नाट्य साहित्य का सर्वेक्षण करने से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने हिन्दी नाट्य परम्परा को विषयगत प्रयोग की दृष्टि से समृद्ध एवं विस्तृत किया है। उनके नाटकों का विषयानुसार वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

१. ऐतिहासिक-पौराणिक विषय
२. मिथकीय विषय
३ समकालीन सामाजिक विषय
४ लोक-संस्कृतिपरक विषय

१ ऐतिहासिक-पौराणिक विषय

भारतीय नाट्य-परम्परा में एक विशेष रूप से प्रसाद-युग के पूर्व भारतेन्दु युग मे, ऐतिहासिक-पौराणिक विषयो का लेकर सर्वाधिक-नाट्य रचना हुई। संस्कृत-साहित्य की श्रेष्ठतम नाट्य कृतियाँ—अभिज्ञान शाकुन्तलम्, उत्तर रामचरितम्, वेणी-संहार, स्वप्नवासवदत्तम्, मालविकाग्निमित्रम् आदि नाट्य रचनाओं का विषय ऐतिहासिक और पौराणिक है। इसके उपरान्त द्विवेदी युग मे भारतेन्दु युग के सदृश पौराणिक नाटकों का ही बाहुल्य रहा। किन्तु प्रसाद जी से पूर्व हिन्दी के किसी भी नाटककार ने गवेषणा के आधार पर युग विशेष की संस्कृति को आत्म-सात् करते हुए उस गाम्भीर्य के साथ ऐतिहासिक-पौराणिक विषयों का विवेचन नही किया था जैसा कि प्रसाद जी ने किया। लेकिन प्रसादोत्तर नाटककारों जैसे उदयशंकर भट्ट, वृन्दावनलाल वर्मा, गोविन्दवल्लभ पन्त, लक्ष्मी नारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, मोहन राकेश आदि में ऐतिहासिक विषय मिलते है।

परन्तु स्वात योत्तर युग मे हिंदी नाट्य चितन को विकासमान दिशा प्रदान करने मे जगदीशचन्द्र माथुर का नाम अग्रगण्य है। उनके नाटक उस अथ म एतिहासिक नहीं है जो इतिहास के अज्ञात पृष्ठ का अनावरण करन के लिए लिख जाते हैं। उनके लिए इतिहास जीवन की कविता को उजागर करने का माध्यम ह चाहे वह गदर के सेनानी कुवरसिह स सम्बन्धित हो अथवा कोणाक के राजराज चालुक्य से अथवा शारदीया का दौलतराव सिंधिया हो अथवा पहला राजा का पृथु हो। भारतीय इतिहास की गौरवयुक्त घटनाओ को नाटकीय रूप देना माथुर का भारतीय इतिहास म अभिरुचि को व्यक्त करता है। यही तथ्य कोणाक, शारदीया, कुवरसिह की टक, पहला राजा क विषय म लागू होता है। कोणाक की कथा की पृष्ठभूमि मात्र ही एतिहासिक है उसका कथानक मूलत काल्पानकाधार पर लिखा गया ह। इतिहास के अनुसार ईसा की सातवी शताब्दी स लकर तेरहवी शताब्दी तक उडीसा म एक क बाद एक विशाल, भव्य अलौकिक कलापूण मन्दिरो का निमाण हुआ जो आज भी भुवनश्वर, जगन्नाथपुरी तथा कोणाक म तत्कालीन कला क साक्षी रूप म खड ह। मध्यकालीन उडीसा क मन्दिरो की परम्परा म यह अन्तिम भवन ह। ईसवी सन् १२३८ स लकर सन् १२६४ तक गगवशीय नरसिहदेव उत्कल म राज्य करत थ, इसका इतिहास साक्षी है। नरसिहदेव, महामात्य चालुक्य, विशु, धमपद एतिहासिक पात्र ह, उडीसा भाषा क ग्रथो म विशु, धमपद तथा चन्द्र लखो, तीनो का उल्लख मिलता ह। कुवरसिह की टक को हम पूण एतिहासिक नही कह सकते। इसम इतिहास और कल्पना का मिश्रण ह परन्तु एतिहासिकता क मोह म साहित्यिकता दब गई है। इस रचना न इतिहास का-सा रूप धारण कर लिया है। इस कृति की रचना करन क लिए कृतिकार का विभिन्न स्थानो, पुस्तको तथा विद्वानो स सामग्री इक्ट्ठी करनी पडी ह। उस दखत हुए स्वय कृतिकार न उस कृति को भानमती का पिटारा कहा ह। शारदीया एक एतिहासिक नाटक है। इस नाटक म ११ माच सन् १७६५ म मराठा तथा हेदराबाद क निजाम के मध्य होन वाले खर्दा युद्ध की झाकी दी गई है। और उसक पहल और कुछ बाद तक मराठा की राजधानी पूना म जो राजनीतिक उलट फर हुए, उनकी आर भी सकत किया गया है। नाटककार न सरदसाई क न्यू हिस्ट्री आव द महराठाज' म अनक ऐतिहासिक घटनाओ को लिया है। अत ,स्पष्ट है कि शारदीया म अधिकाश घटनाए इतिहास सम्मत है। लकिन इस नाटक की कुछ घटनाए नाटककार माथुर की कल्पना की उपज भी ह। युद्ध-सम्बन्धी अनक घटनाओ म माथुर न कल्पना का पुट दिया है। कल्पना सवत्र ही ऐतिहासिक तथ्यो म घुलकर आई ह। अत निविवाद कहा जा सकता है कि शारदीया' एतिहासिक नाटक ह। जगदीशच द्र माथुर इतिहास और पुराण की आधारशिला पर वतमान का वदना और विसगति को उकरने का प्रयास इतिहास-पुराण जीवन-सदर्भो स जोडकर

उसका नया प्रयोग 'पहला राजा" मे करते है। नाटककार स्वीकार करता है कि 'वैदिक और पौराणिक साहित्य, पुरातत्व एव इतिहास, लोकगीत और बोल-चाल, इन सभी मे मुझे प्रतीको के उपकरण मिले हैं। उन समस्याओ को प्रकट करने के लिए मैं इस नाटक मे जूझता रहा हू।" जगदीशचन्द्र माथुर का पौराणिक विषयो की परम्परा मे यह एक नूतन प्रयोग ही कहा जा सकता है। उनका अन्तिम नाटक "दशरथनन्दन' पौराणिक नाटक है क्योकि यह तुलसीदास के "रामचरितमानस" पर आधारित है। परन्तु समस्याओ एव प्रतिपादन शैली की दृष्टि से आधुनिक है। अत हम कह सकते हैं कि माथुर जी ने अपने युग मानस को समझते हुए अपने नाट्य साहित्य मे पौराणिक विषय, ऐतिहासिक विषय परम्परा को अगीकार किया। इतना ही नही, पौराणिक विषयो का भी इतिहास की सामान्य भूमिका मे ही चित्रण किया तथा अलौकिक एव चमत्कारी तत्त्वो को सयत कर घटनाओ की युक्तिसगत कार्य कारण परम्परा मे नवीन प्रयोग को प्रतिष्ठित किया।

२ मिथकीय विषय

मिथकीय शब्द अग्रेजी के मिथ शब्द से बना है जिसका अभिप्राय परम्परागत कथा से लिया जाता है। यह परम्परागत कथाए इतिहास के साथ साथ चलती हैं मगर डॉ० रमेश कुन्तलमघ के अनुसार 'इतिहास नही होता'। प्राचीन साहित्य के बीच से अगर गुजरें तो वह आधे से अधिक इन्ही कथाओ से भरा मिलेगा। किसी पात्र को, घटना का एक आलौकिक बना देना और उनका धीरे-धीरे एक रूढि के रूप म प्रयोग/मान्यता होने की स्थिति/साहित्यकारो का उसे रचनाबद्ध कर देना—इस ढग से कल्पना का मिश्रण कर कि वह इतिहास लगे और लोग/पाठक उसे अदृश्य/आलौकिक शक्ति/नाटक के रूप म स्वीकारने लगे —को मिथकीय घटना/पात्र का नाम दिया गया। ऐसा साहित्य पुराणो, उपनिषदो आदि म भरा मिलता है। लोक कथाए लगभग मिथको से भरपूर होती हैं। इनके रचनाकारो के विषय म भी प्राय अज्ञानता ही सामने आती है। जब आय लोग भारत आए तो उन्हे यहा के मूल निवासियो स युद्ध करना पडा। वह युद्ध सास्कृतिक धरातल पर अधिक था। दो सस्कृतियो क टकराव के परिणामस्वरूप साधारण को अपने प्रभाव मे करने हेतु—समाज के मुखियानुमा लोगो न अपनी-अपनी सस्कृति एव जाति मे नेता की प्रशसा करने की धुन म भी इस तरह साहित्य को बढावा दिया। वह कथाए धीरे-धीरे आने वाली पीढिया तक पहुचती गई और एक इतिहास की भावना ही लोगो मे प्रचलित होती रही। इनम समय के साथ-साथ काल्पनिक अश भी बढ़ते गए और आलौकिक शक्तियो की भरमार भी होती गई।

दूसरी प्रवृत्ति मिथक के पीछे यह रही कि तथाकथित उच्च जाति वाले व

शासक वर्ग मे मान लीजिए कोई उस समय के रीति विरुद्ध कोई बात हो जाती हैं, उदाहरणस्वरूप किसी शासक वर्ग की महिला और शोषित वर्ग के पुरुष के सम्बन्धो से बच्चा पैदा हो जाता है तो उसे शासक वर्ग मे बदनामी के डर से किसी आदमी के साथ जोड दिया। महाभारत के प्रसिद्ध पात्र कर्ण का जन्म प्रसग भी इसी तरह के विचारो का प्रमाण है। कर्ण को सूर्य-पुत्र कहा गया और कुन्ती द्वारा आराधना के प्रसाद-स्वरूप उसको चित्रित किया गया। वह धीरे-धीरे आने वाली पीढियो के मन मे बैठती गई। इस तरह की घटनाओं पर किन्तु (प्रश्नचिह्न) भी नही उठता क्योकि यह धार्मिक भावना से ओत-प्रोत होती हैं। धर्म इनकी रक्षा के लिए दीवार बन कर खडा रहता है। इसलिए हम कह सकते हैं और डॉ० रमेश कुन्तलमेघ के कथन से पूर्णत सहमत हैं कि यह घटनाए अर्थात् मिथकीय इतिहास की तरह ही होता है, इतिहास के साथ साथ ही चलता है मगर इतिहास नही होता।

प्रस्तुत नाटक मे श्री जगदीशचन्द्र माथुर ने भी मिथकों का आश्रय लिया है। सम्पूर्ण नाटक "पहला राजा" मे मिथको की इतनी भरमार है कि उसे मिथकीय नाटक कह दिया जाए तो कोई अतिश्योक्ति नही होगी। प्रस्तुत नाटक मे पृथु की कथा का आधार महाभारत है। विष्णुपुराण में इस कथा में कई और प्रसग जोड दिए गए हैं। इस कथा के साथ निषाद और सरस्वती की कथा भी चलती है। निषाद और कवच दोनो पात्रो को नाटककार ने अपनी रचना में एक ही पात्र के रूप में उभारा है। निषाद क्षत्रिय पिता और शूद्र माता की सतान होने के नाते निर्वासित कर दिया जाता है। मुनियो से अलग जगल मे वह अपनी साधना द्वारा सरस्वती नही बुलाता है। उसके इस चमत्कार के बाद मुनि लोग उसे अपने पास बुला लेते है। वास्तव मे उच्च जाति वालो की समाज मे प्रतिष्ठा व समाज मे उनका शासन चलता है इसीलिए वह अपने अनुरूप नीतिया बना लेते हैं। पृथु का, दाहिनी भुजा मन्थन से प्रकट होना तथा उसे सभी के द्वारा राजा मान लेना भी ऊपर वर्णित बात की ओर सकेत देता है।

इसी तरह जघा मन्थन से निषाद की उत्पत्ति भी स्पष्ट करने मे सहायता देती है कि वह निश्चय ही शूद्र यानि निम्न जाति के मेल से उत्पन्न सतान रही होगी जिसे उच्च जाति वालो ने स्वीकार न कर, उसे निर्वासित कर दिया।

राजा पृथु द्वारा धरती पर आक्रमण करने दौडना, धरती का प्राणो की भीख मागने प्रकट होना और तरह-तरह के दोहन इत्यादि प्रसग मे भी अपनी जाति के राजा की चामत्कारिक घटनाओ का वर्णन किया गया है।

इस तरह की घटनाए लोक गाथाओ के माध्यम से भी एक पीढी तक पहुचती हैं। महाभारत और पुराणो व विभिन्न ग्रथो मे वर्णित यह कथाए तथा हडप्पा-

मोहनजोदडो मे प्राप्त मिट्टी की मुद्राए भी इस मिथिहास को गढ़ने तथा बढावा देने के लिए उदाहरण है। इन मुद्राओ मे पृथ्वी के शस्योत्पादन रूप का चित्र भी है। आज भी कई कबीलो म विशेषत राजस्थान मे भीलो द्वारा बनाई गई उनकी आराध्य मूर्तिया परम्परागत कथाओ का ज्वलत उदाहरण है। मातृपूजा, यहा आने के बाद आर्यों ने जीवन का अग बन चुकी थी। वह परम्परा के रूप मे इन्ही मूर्तियों से स्पष्ट होती है। इतना तथ्य होने पर भी इन्हे इतिहास की सज्ञा नही दी जा सकती यह मिथिहास है जो धीरे-धीरे जनजीवन का अग बन जाता है या इस तरह घुल मिल जाता है जैसे इतिहास हो।

हमारे विवेच्य लेखक की सम्पूर्ण कृतियो (नाटको) मे से "पहला राजा" का आधार मिथकीय है और मिथको का पूर्णत निर्वाह करने मे (रचनात्मक आधार पर) लेखक सफल रहा है।

३ समकालीन सामाजिक विषय

कोई भी साहित्यकार रचना की प्रेरणा अपने वर्तमान से ही ग्रहण करता है। निश्चय ही लेखक की ऐसी समस्याए होगी जो कि अभिव्यक्ति की माग करती हैं। नाट्य निर्माण का मूल प्रेरणा स्थल जन समाज है। समाजगत प्रकृति से अनुप्राणित होकर ही लेखक नाट्य रचना की ओर प्रवृत्त होता है। वस्तुत रघुवश के अनुसार "नाटक की रचनात्मकता मे कथावस्तु का महत्त्वपूर्ण विकास भावातिरेक से हट कर जीवन की व्यापक परिस्थितियो के अनुकरण के कारण हुआ है" (नाट्यकला)। यही कारण है कि माथुर जी की नाट्य प्रेरणा किसी न किसी सामाजिक समस्या से ही प्राप्त होती है। प्रत्येक देश का नाटक साहित्य अपने समाज का प्रतिरूप होता है। सामान्य लोग समाज की जिन सूक्ष्म स्थितियो का अवलोकन नही कर पाते नाटक द्वारा उनका ही प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। माथुर जी के नाटको की समस्याए प्राय सामाजिक हैं। मूलत उन्होने मध्यवर्ग की सामाजिक समस्याओ का चित्रित किया है। जैसे शोषको का शोषितो के प्रति अत्याचार,

शोषितो का शोषको के प्रति विद्रोह
रूढिग्रस्त समाज के प्रति तरुणो का विद्रोह,
रोजी रोटी का प्रश्न,
अधिकारो की लडाई।

नारी समस्या, गरीबी लाचारी, रोमास की निस्सारता, आय-व्यय की समस्याए, विवाह तथा जीवन के अन्य छोटे बडे झगडे, बाह्य प्रदर्शन अर्थात् रगीली चहल पहल का विरोध दाम्पत्य जीवन के नाप मापदण्ड, पश्चिमी सभ्यता तथा

शिक्षा से प्रभावित नई समस्याएं, अवैध यौन सम्बन्धों की चर्चा, इसके अतिरिक्त नाटककार ने "पहला राजा" मे कुछ मूलभूत प्रश्नो को – ऐसी परिस्थिति जिसमे कर्म मे उपलब्धि की जगह उपचार की तलाश की जाती है, मनुष्य और प्रकृति के साधनो का आपसी रिश्ता, समाज के विकास मे वर्णसंकरता की देन, समुदाय और राजसत्ता के बीच सम्बन्धो की बुनियाद, महत्त्वाकांक्षी पुरुष मे कर्म की स्फूर्ति और काम की लालसा का सहज सहअस्तित्व—कुछ पौराणिक पात्रो और प्रसगों मे मिले प्रतीको के माध्यम से प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।

"कुवरसिंह की टेक" मे पात्र कुवरसिंह गाव के लोगो को जागृत करके उन्हें अपने अधिकारों की लडाई के लिए तैयार करते है। जब पटना से अग्रेजो के डिप्टी मौलवी अजीमुद्दीन आकर कुवरसिंह को कमिश्नर साहब का पैगाम देते हैं तो कुवर फिरगी की चाल को भाप कर, रणदलन को दक्षिण से सिपाहियो की तैयारी के विषय मे खबर भेज कर चतुराई से काम लेते है। कुवरसिंह को इस बात का ज्ञान है कि दुश्मन से टक्कर लेने के लिए लोकदल की परमावश्यकता है। गाव-गाव मे लोगो को जागृत करने का काम किया जाता है। कुवरसिंह कहते हैं—"तलवार कुवरसिंह की है, हाथ प्रजा के।" अत इस लघु नाटक के माध्यम से माथुर जी ने गाव की समस्या को उठाकर उसे सुलझाने का भी प्रयत्न किया है। "कोणार्क" मे धर्मपद की वाणी मे आज का युग बोल रहा है—हजारो-लाखो, पीडित-उपेक्षित एव जनता का दर्द मुखर हो रहा है। गरीबो पर अत्याचार होता है, उनका शोषण होता है तथा धर्मपद (आधुनिक युवक का प्रतीक) गरीबो पर अत्याचार का पर्दाफाश करता हुआ विशु से कहता है—"जब मैं इन मूर्तियो मे बधे रसिक जोडो को देखता हू तो मुझे याद आती है पसीने मे नहाते हुए किसान की कइयो की स्त्रियो को दासियो की तरह काम करना पडा है और उधर सारे उत्कल मे अकाल पड रहा है।" इस प्रकार गरीबो की जमीनो को छीना जाता है और उनको वेतन भी समय पर नही दिया जाता है। धर्मपद ने इस नाटक मे आधुनिक मजदूर की आवाज को ऊचा उठाया है और शोषण के विरुद्ध आक्रोश की भावना व्यक्त की। इसके साथ ही इस नाटक मे शिल्पियो की निर्धनता का वर्णन किया है। आज भी अनेक व्यक्ति गावो म, आजीविका के लिए शहरों म आते हैं। धर्मपद इसी सम्बन्ध मे राजा नरसिंह देव से कह रहा है—"अनेक शिल्पी अपने ग्रामो मे स्त्री बच्चो को थोडी-सी जमीन और खेती के सहारे छोडकर आए हैं वही जीवन-स्रोत सूख रहा है।" इतना ही नही वह किसानो की आर्थिक अवस्था से राजा को अवगत भी कराता है—"ग्रामो मे रहने वाले सैकडो हजारो किसान, वन और अटीविका केशवर और वे अगणित मजदूर, जिनके ढोए हुए पाषाणो को हम शिल्पी रूप देते हैं, देव, वे सभी आज त्राहि-त्राहि कर रहे हैं।" आज भी रोटी के अभाव मे भूखे अनेक मजदूर चिल्ला रहे हैं परन्तु उनकी

पुकार को कोई नही सुनता। अत इसके माध्यम से साम्राज्यशाही के विरुद्ध जनता की महान शक्ति को उभारा गया है। दूसरी तरफ माथुर जी ने आज के युग मे बढते हुए अवैध यौन सम्बन्धो के विषय को भी उठाया है। क्योकि आधुनिक युग मे अवैध यौन सम्बन्ध भी एक ज्वलन्त समस्या बन गई है। पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव के कारण जीवन के विरोध क्षेत्र, बदलाव की राह पर जहा अग्रणी हुए हैं वहा अवैध यौन सम्बन्ध भी इस सभ्यता के प्रभाव से अछूते नही रहे। उनमे भी यथास्थान स्पन्दन आए मूल्य टूटे और समाज भी अपनी ऐन्द्रिय भूख मिटाने के लिए ऊचनीच अमीरी-गरीबी मे सकीर्ण भागो को छोडकर पाश्चात्य जगत की भाति स्वच्छन्द विहार करने लगा। विशु एक गरीब सारिका से अवैध यौन सबध स्थापित करता है और परिणामस्वरूप वह उसे तथा उससे उत्पन्न सन्तान को छोडकर कही दूर चला जाता है। इस प्रकार विशु समाज मे मुह दिखाने योग्य नही है और सारिका के जीवन को नष्ट करने के लिए पूर्णत उत्तरदायी है। मूलत देखा जाए तो "कोणार्क" म लघुता का शक्ति के प्रति विद्रोह है। अत इस मे समकालीन सामाजिक विषयो का सही अकन हुआ है।

'शारदीया" म प्रमुख रूप से माथुर जी ने राष्ट्रीय समस्या को ही समकालीन सामाजिक विषय के रूप मे चित्रित किया है। क्योकि इस नाटक के प्रकाशित होने से पूर्व भारतीय सविधान मे यह घोषणा की जा चुकी थी कि व्यक्तिगत और जातीय धर्म म राज्य की ओर से कोई हस्तक्षेप नही होगा। जगदीशचन्द्र माथुर ने "शारदीया" नाटक म इसी घोषणा की ओर सकेत किया है। नरसिंह दौलतराव सिंधिया स कहते है कि हैदराबाद के निजाम से विजय प्राप्त करके ही आवश्यक घोषणाए करनी होगी—'पहली घोषणा तो यह कि दोना राज्यो मे हिन्दू और मुसलमानो को अपने धर्मकाज करने की पूरी आजादी होगी, न दक्षिण मे गौ-वध होगा, न महाराष्ट्र म खुदा परमात्मा की एक बराबर सतान हो, इसलिए न हिन्दू मन्दिरो पर आघात होगा, न मुसलमान मजारो, पीरो और पैगम्बरा का अपमान किया जाएगा। दोना एक दूसरे के साथ मेल मिलाप से रहेगे।' इस प्रकार नाटककार न दोना जातिया को परस्पर मेल मिलाप से रहने पर विशेष बल दिया है। तो दूसरी तरफ अनमल विवाह को भी माथुर जी ने विषय प्रयोग के रूप मे चित्रित किया है। शर्जेराव घाटगे की पुत्री बायजाबाई नरसिहराव की प्रेयसी थी, परन्तु लोभ मे शर्जेराव घाटगे ने बायजाबाई का विवाह दौलतराव सिंधिया से कर दिया। बायजाबाई नरसिहराव से अपने पिता के स्वार्थ का स्पष्ट उल्लेख करती है—'जिन आका ाओ के यज्ञ मे मैं आहुति बन कर आई हू बाप को अपना सौदा ठीक करने का अवसर मिल गया। अत माथुर जी के इस नाटक मे पारस्परिक सम्बन्ध की तीव्रता विविधता सयम काफी अधिक है।

"पहला राजा' एक ओर जहा सामाजिक व्यवस्था म शासनतत्र के उदय

और विकास की कथा है वही दूसरी ओर पौराणिक कथा की नयी व्याख्या भी और वर्तमान से विद्रूप को व्यग्य से प्रस्तुत करने का प्रयास भी। यह नाटक, काम और यौन्य सम्बन्धों के निरूपण से सम्बद्ध है क्योंकि उर्वि अगर पृथु और भीतर विद्यमान काम भावना थी तो अर्चना उसका व्यक्त और स्थूल रूप। इस नाटक मे अर्थ का एक और धरातल उभरता है जब वैदिक युग भी आज की तरह नारे, जुलूस और क्षुद्र स्वार्थ से प्रेरित और राजनीति से ग्रस्त दिखलाई पडता है। यह नाटककार की कल्पना हो सकती है कि वह विषय को इस रूप मे प्रस्तुत करे—लेकिन इस कल्पना की प्रेरणा भी समकालीन राजनीतिक यथार्थ से प्रेरित है। कुछ व्यक्तियों की स्वार्थपूर्ण राजनीति का कुफल निर्दोष जनता को सब दिन से भोगना पडा है—यह भी एक शाश्वत सत्य है इसके साथ ही जगदीशचन्द्र माथुर ने आधुनिक ठेकेदारो की झूठी पोल खोलने का भी प्रयत्न किया है कि किस प्रकार सरकारी कार्य करने के लिए सरकार से रुपया ऐंठा जाता है और बदले मे न तो कार्य सम्पन्न होता है और न मजदूरो को वेतन ही मिलता है। इस नाटक मे भृगुवंशी आश्रम को टोकरियो और कुदालियो की ठेकेदारी और आत्रेय आश्रम को मजदूरों की सप्लाई की ठेकेदारी देना, इसी दुष्प्रवृत्ति और धांधली के प्रतीक हैं। अन्त म पृथु की कवष की बाध योजना विफल हो जाती है। और ठेकेदारो की स्वार्थ सिद्धि के कारण जन हित तथा जन-साधनो का बलिदान हो जाता है। इसके अतिरिक्त इसमे सामान्य राजनैतिक नियमो और आदर्शों की अभिव्यजना भी मिलती है। गर्ग आर्त्र और शनाचार्य जैसे विद्वान एव राजनीति शास्त्र के सुख्यात प्रणेता राजधर्म पर विस्तारपूर्वक विचार करते हैं। वे पृथु को राजा बनाते समय बताते है कि —"यज्ञशालाओ की रक्षा, समानता, अधर्मी को दण्ड, ब्राह्मण को सदा दण्डमुक्त, मनमानी की वर्जना, वर्णसकरता को रोकना आदि राजा के प्रधान कर्तव्य हैं।" इसके साथ ही जगदीशचन्द्र माथुर के नाटक मे धार्मिक सिद्धातो तथा आस्थाओ की अभिव्यजना के साथ परम्परागत वैवाहिक सम्बन्धो की अभिव्यजना भी मिलती है। जैसे—सूत्रधार नटी से कहता है—"जानवर होने के कारण मनुष्य को किसी-न-किसी प्रकार के बाहरी अनुशासन की आवश्यकता है, ऐसे बाहरी इशारे जिनके सहारे वह चले या रुके, ऐसे पैमाने जिनसे नाप-नापकर निर्णय ल सके, ऐसे मूल्य जिन्हे वह अटल मान सके। यही धर्म है।' मानव सर्वोत्कृष्ट प्राणी होने के कारण पशुता से अपने आपको मुक्त करता रहता है। पर धर्मविहीन होने स मनुष्य भी पशु ही बन जाता है। लेकिन जब पृथु सघर्ष म फस जाता है तब अर्चना अपने पिता की आज्ञा का उल्लघन कर चली जाती है —"नहीं पिता जी ! आर्यपुत्र के प्राणो पर खतरा है, मुझे जाना है।"

नाटककार ने "दशरथनन्दन" के अन्तर्गत वर्ग सघर्ष—जो समाजवाद के नारो मे दूर है तथा जो समाज को निगल रहा है, जिसने आम आदमी को अनु-

भूतियों से कटु बना दिया है, उसी भावना को समाप्त करने का या समाजवादी और रचनात्मक प्रयास है – रामलीला की प्राचीन नाट्य शैली का एक प्रयोग — दशरथनन्दन। यह कृति परम्परा का निर्वाह करती है। आज के समाज मे परिवेश का परायापन जिसमे गाव वालो को गवार, शहर वालो को स्वार्थी, तोतुप समझा जाता है, गाव और शहर दोनो को विकर्षण से निकालकर स्नेह से अपनत्व में बाधना सच्चा समाजवाद होगा। दोषपूर्ण वर्तमान सामाजिक सरचना को आत्मीयता और आन्तरिकता से ही दूर किया जा सकता है "दशरथनन्दन" का सामाजिक महत्व भी उतना ही है जितना साहित्यिक।

निष्कर्षत हम कह सकते हैं कि आज नाटककार की ईमानदारी, अपने समसामाजिक जीवन के प्रति उसकी प्रतिबद्धता और परम्परा तथा आधुनिकता मे सामजस्य की खोज ही उसे भविष्य की सही दिशा का संकेत दे सकती है और इस राह से गुजर कर ही वह अपने नाटको में सामाजिक विषयो का चयन करता है। अत इस प्रकार जगदीशचन्द्र माथुर के नाटको के माध्यम से समकालीन भारतीय समाज के विषयो का समस्त रूपो से प्रत्यक्षीकरण हो जाता है।

४. लोक-सस्कृतिपरक-विषय

लोक सस्कृतिपरक विषय लोक चेतना के अभिव्यजक होते हैं। लोक जीवन की समस्त घटनाए किसी न किसी रूप मे इन नाटको की कथावस्तु के अन्तर्गत समाविष्ट होती चलती हैं। इनमे जन-जीवन के वर्तमान स्वरूप का उपस्थापन बडी सचेष्टता के साथ किया जाता है। इन नाटको का प्रचार प्रसार अभिजात धारा से सर्वथा पृथक लोक-धारा के रूप मे होता है। इधर ग्रामीण अचल मे भी नागर प्रवृत्तियो का किंचित प्रसार होने लगा है और इसी से लोकनाट्यो के प्रदर्शन मे भी कभी-कभी अधिक कलात्मकता दिखाई पडने लगी है। **लोक नाटकों मे लोक जीवन का प्रकृत रूप प्रकट होता है।** जनपदीय जीवन जितना ही सरल होता है जन-नाटको का प्रस्तुतीकरण भी उतना ही आडम्बरशून्य हुआ करता है। ये नाटक परम्परागत रूप म प्रचलित रहकर जन-जीवन म होने वाले सभी प्रकार के क्रियाकलाप से अपने सामाजिको का परिचित कराते रहते हैं। जगदीशचन्द्र माथुर ने लोक जीवन और सस्कृति के प्रति अपने इस मध्यम वर्गीय अथाह प्रेम को, जीवन के अनुभवो तथा "भोगे हुए यथार्थ" से सींचा है। क्योकि कामकाजी जिन्दगी मे वे ग्रामीण जीवन के निकट सपर्क मे आए और वही उन्हे धरती के असीम सौन्दर्य और लोक जीवन तथा सस्कृति की अक्षय निधि का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। उन्ही के शब्दो मे —'वातावरण और प्रकृति को सूक्ष्म और सश्लिष्ट रूप मे देखने की मेरी पुरानी आदत है (बोलते क्षण)।' "शारदीया" मे उनके हृदय की चादनी बिखरी पडी है। पत्थर की दीवारो के बीच बन्द नरसिहराव अपने सूने एकात को सवेदना

के बल पर, तारो की ज्योति, पक्षियो की चहक और गुलाब की कलियो से भ
देता है। अत जगदीशचन्द्र माथुर ने लोक जीवन को लोक सम्पर्क से जाना पह
चाना ही नही गहराई से उसका मूल्याकन भी किया है। लोकगीतो, नृत्यो तथ
कलाओ को उन्होने अपने लेखन मे सस्कृति के सूक्ष्म शरीर के रूप मे प्रतिष्ठित
किया है। "बोलते क्षण" मे कहते हैं —"लोकोत्सव एक प्रकार का नाटक है जिसमे
समुदाय के अनेक व्यक्ति अपना-अपना पार्ट अदा करते हैं।" उनके नाटक ही नहीं
वरन् "परम्पराशीलनाट्य" तथा "प्राचीन भाषा नाटक सग्रह" इस बात के साक्षी
भी हैं।

लोक जीवन, लोक नाट्य और सगीत के लिए माथुर ने आकाशवाणी निदेशक
के रूप मे जो कार्य किया वह सराहनीय है और इसमे भी शका नही कि ग्राम
जीवन की सस्कृति उल्लास दल की वाणी और नृत्य की थिरकन पर ही वह नहीं
रीझे हैं उसमे व्याप्त शोषण, कटुता और विसंगति पर भी उनकी दृष्टि गई है
इसकी पीडा "कुवरसिंह की टेक" से लेकर "दशरथनदन" तक मे देखी जा सकती
है। नाटकीय सवेदना के तीव्र अनुभव के लिए जगदीशचन्द्र माथुर प्राय अपने
नाटको मे गीतो का भी सोद्देश्य प्रयोग करते हैं। इस दृष्टि से "कुवर सिंह की टेक"
मे कुवर का गीत, शारदीया के गीत "निस दिन बरसत नैन हमारे" और "भीनी
भीनी चदरिया" पूर्व सदर्भ से जुडकर नाटक को विस्तार देते हैं। "पहला राजा"
मे इर्वी के माध्यम से एक गीत आया है जिसमे "लोकगीतो" की तान पकडने की
चेष्टा की गई है।

अत इस प्रकार हम कह सकते हैं कि माथुर जी के नाटको मे भारतीय परपरा
से प्राप्त अनेकानेक विषय तथा भारतेन्दुकालीन विषयो को भी स्थान मिला है।
माथुर जी ने उन विषयो का प्रतिपादन नवीन प्रयोगो के माध्यम से युक्तिसगत
एव प्रभावी रूप मे किया है। अत माथुर जी ने अपने युग-मानस को समझते हुए
अपने नाट्य साहित्य मे पौराणिक विषय की बाहुल्यता को समेटते हुए अपने नाट्य
इतिहास को सभाव्य भूमिका मे ही चित्रित किया तथा यथासभव दिव्य एव
चमत्कारी सामाजिक मिथकीय विषयो को सयत कर घटनाओ की युक्तिसगत
कार्य-कारण परपरा को अधिष्ठित किया है। अत इस प्रकार माथुर जी के नाटक
विषयगत प्रयोग की दृष्टि से भी अन्य नाटककारो से आगे निकल गए हैं। ••

६

जगदीशचन्द्र माथुर के नाटकों में नाट्य-शैल्पिक प्रयोग

नाट्य शिल्प के परिप्रेक्ष्य से हमारा तात्पर्य कथ्य और अभिव्यक्ति की परस्पर घनिष्टता और सन्तुलन को स्थापित करने से है। दोनो के मध्यस्थ स्पष्ट विभाजन रेखा है, पर यहा विचारणीय है कि दोनो की विभिन्नता के बावजूद भी एक कुशल नाटककार उन्हे किस प्रकार पारस्परिक पूरको के तौर पर नियोजित करता है। आत्मानुभवो को दूसरे के समक्ष प्रकट करने की उसकी यह सहज प्रवृत्ति तथा उन अभिव्यक्तियो को नई-नई शैलियो मे भरकर अधिक-से-अधिक रोचक, पूर्ण एव प्रभविष्णु बनाने के प्रयास नाटक के मौलिक शिल्प विधानो के प्रेरक होते हैं। अतएव नाट्य रचना के स्थूल रूप से दो पक्ष किए जा सकते है। सवेदन पक्ष और कलापक्ष। यह कलापक्ष ही शिल्पविधि की इतर सज्ञा है। शिल्पविधि शब्द का प्रयोग प्राय अग्रेजी के "टैकनीक" शब्द के पर्यायवाची के रूप मे होता है। टैकनीक का सबल एव स्पष्ट अर्थ है—कला के विभिन्न उपकरणो की योजना का वह विधान, वह प्रक्रिया, वह ढग व वह तरीका जिसके माध्यम से नाटककार अपनी अमूर्त अनुभूति व विचारधारा को नाटक के रूप मे सर्वथा स्पष्ट मूर्त व्यवस्थित एव निश्चित रूप प्रदान करता है अर्थात् अस्पष्ट, आत्मानुभूति को स्पष्ट, सुन्दर एव प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति देकर अपने लक्ष्य की पूर्ति मे सफल होता है। क्योकि शिल्पविधि के अध्ययन क्षेत्र मे नाटक का कलापक्ष ही मुख्य रूप से नियोजित होता है। अत रचना की दृष्टि से नाटक के मूलभूत घटक है—वस्तु-सघटन के प्रयोग, पात्र परिकल्पनात्मक प्रयोग, नाट्यशैली विषयक प्रयोग, भाषायी प्रयोग। एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटक होता है नाटक का प्रस्तुतिकरण, जो रगमचीयता के इस युग म इतना चर्चित है कि माथुर जी के नाटको के सन्दर्भ मे उनका स्वतन्त्र विश्लेषण अगले अध्याय मे किया जाएगा। ये सभी तत्त्व अपने-अपने स्थान पर

विशिष्ट एवं मूल्यवान हैं। इनमे से किसी एक तत्व को सर्वाधिक या अनुचित नही कह सकते। वास्तव मे इन सभी तत्वो का सामूहिक प्रभाव ही नाटक को नाट्यात्मक सफलता प्रदान करता है।

१ वस्तु सघटन के प्रयोग

इन्द्रिया की मध्यस्थता के विचार से काव्य के दो भेद होते हैं—श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य। किसी दृश्य काव्य के कथानक को वस्तु कहते हैं। नाटक का प्रधान एव अनिवार्य तत्त्व कथानक है। यही रचना का आधार तथा भित्ति होता है। सामान्यत कथा, इतिवृत्त और कथावस्तु को समानवादी शब्द मानकर इनका प्रयोग नाटक के इस मूल आधार कथानक के लिए किया जाता है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इनमे स्वरूपगत थोडा अन्तर दिखाई पडेगा। "काल-क्रमानुरूप व्यवस्थित घटनाओ का कथन कथा है। इतिवृत्त म तथ्यो का कथन-मात्र होता है और इसम रसादता का अभाव रहता है (बच्चनसिंह, हिन्दी नाटक)।" वास्तव म घटनाचक्र कालानुक्रम म अपेक्षित परिवर्तन करते हुए अथवा मन कल्पना से उद्भूत घटनाओ को मिलाकर उनका नया प्रयोग ही कथावस्तु कहलाता है। इस प्रकार कथा क स्थान पर कथानक, वस्तु-सयोजन, वस्तु-विन्यास, वस्तु-सघटन या कथावस्तु शब्द का प्रयोग किया जाए तो अनुचित न हो। ही वस्तु सयोजन की दृष्टि स नाटककार को कथानक योजना, व्यापारन्विति और गति-शीलता पर विशेष ध्यान देना पडता है। शास्त्रीय नाट्य चिन्तन न वस्तु तत्त्व को दो वर्गों म विभाजित किया है—१ आधिकारिक, २ प्रासगिक। मूल कथा-वस्तु को आधिकारिक और गौण कथावस्तु को प्रासगिक कहत है। लकिन माथुर जी अपने नाटको म इन बिन्दुओ का छोडते हुए अपनी अलग राह का अन्वेषण करते हैं। वह आधिकारिक कथा तक ही सीमित रहते हैं। उनके सभी नाटको म कही भी गौण कथावस्तु या प्रासगिक कथा का सयोजन नही किया गया ह। प्रास-गिक कथावस्तु क दो भद होत हैं—पताका और प्रकरी। बराबर चलन वाली कथा पताका तथा चलकर रुकन वाली कथा प्रकरी कहलाती है। विषयवस्तु की दृष्टि स वस्तु क तीन भद होते हैं—प्रख्यात, उत्पाद्य, मिश्र। इतिहास, पुराणादि से ली गई कथा प्रख्यात कहलाती है। कवि द्वारा कल्पित कथा उत्पाद्य होती है। जहा प्रख्यात तथा उत्पाद्य का मिलन हो वहा मिश्रवस्तु होगी। इसलिए हम कह सकते है कि जगदीशचन्द्र माथुर ने शास्त्रीय नाट्य चिंतन के सम्पूर्ण तत्त्वो को न अपना-कर नूतन प्रयोग किया है। अत इनकी रचनाओ के शिल्प विधान मे नितान्त नवीनता पाई जाती है।

जगदीशचन्द्र माथुर ने अपने नाटको मे वस्तु सघटन के प्रयोग को निरन्तर सास्कृतिक चेतना से अनुप्राणित किया है। स्वीकृत सास्कृतिक मूल्यो स स्वीकार

नाट्य शिल्प का एक सर्वथा अभिनव और परिपक्व प्रयोग भी। गद्य सवादो के साथ-साथ मानस के दोहे और चौपाइयो का सुघड़ प्रयोग माथुर जी की शिल्पगत प्रौढता का ही परिचायक है। आज के समाज मे परिवेश का यह परायापन जिसमे गाव वाले को गवार, शहर वालो को स्वार्थी और लोलुप समझा जाता है, गाव और शहर के लोगो को विकर्षण से निकालकर स्नेह से अपनत्व मे बाधना सच्चा समाजवाद होगा। दोषपूर्ण वर्तमान सामाजिक सरचना को आत्मीयता और आतरिकता से ही दूर किया जाता है। दशरथनन्दन का सामाजिक महत्त्व भी इस दृष्टि से उतना ही है जितना साहित्यिक।

इस नाटक मे शैली, शिल्प और काव्य तीनो ही धरातल पर आम आदमी से जोडने की कोशिश की जा रही है। यह इसलिए जरूरी है कि नाटक और रगमच एक-दूसरे के पूरक होकर भी आम आदमी की जरूरत हैं। इस दर्शन को सार्थकता प्रदान करने की दिशा मे इस वर्ष के नाटको ने काफी दूरी तय की है। लोक नाट्य-शैली को अपना कर, आम आदमी की तकलीफ की अभिव्यक्ति मे नाट्यवस्तु को शिल्प को जोडकर और नाट्य-प्रयोगो को व्यावसायिक-अव्यावसायिक प्रयासो द्वारा सामान्य लोगो की पहुच मे लाकर इस उद्देश्य की पूर्ति की ओर नया नाटक अग्रसर है। जगदीशचन्द्र माथुर ने "दशरथनन्दन" नाटक मे भक्ति की महिमा और भगवान का स्मरण करने पर विशेष बल दिया है। आज के युग मे यदि व्यक्ति भगवान का भजन सच्चे रूप से करे तो उसका बेडा पार हो जाता है। विश्वामित्र अपने विश्वास के साथ अपने यज्ञ के रक्षार्थ राम-लक्ष्मण को लेने के लिए अयोध्या नगरी जाते हैं और भगवान की महिमा का वर्णन करते हैं—

"आदि अन्त कोइ जासु न पावा।

— — — — — — — —

महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।"

माथुर जी ने भूमिका मे ही स्पष्ट कर दिया है कि इस नाटक का मूल उद्देश्य रामचरितमानस के चुने हुए शब्दो, पदो, विचारो और दर्शन को वर्तमान समाज तक पहुचाना और मूल काव्य के रस एव भक्ति-तत्त्व का भी आनन्द उठाना है। यहा नाटककार का अभिप्राय स्पष्ट है कि वर्तमान समाज का ध्यान भौतिक तत्त्वो की ओर से हटा कर भगवान राम की भक्ति और महिमा की ओर आकर्षित किया जाए।

जब हमारी दृष्टि माथुर जी के कठपुतली नाटको पर जाती है तो देखते हैं कि उन्होंने एक नई विधा का सूत्रपात किया है। "कुवरसिंह की टेक", "गगन सवारी" नामक लघुनाटक साहित्य के अन्तर्गत ही एक नवीन प्रयोग है। इन्ह

रगमच पर अभिनीत किया जा सकता है। अतएव यह नाटक साहित्य के अन्तर्गत ही नवीन प्रयोग है। यद्यपि यह रचना ऐतिहासिक है तथापि इसे पूर्ण ऐतिहासिक कहना अनुचित-सा प्रतीत होता है। नाटककार ने इसमे कल्पना का भी पर्याप्त उपयोग किया है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ऐतिहासिकता के मोह मे साहित्यिकता दब गई है तथा इस रचना ने इतिहास का-सा रूप धारण कर लिया है। स्वय माथुर जी ने इस नाटक के लिए कहा है—"ऐसी रचना को यदि कोई स्पष्टवादी आलोचक भानमति का पिटारा कहे तो मैं बुरा नही मानूगा।" नाटक की कथा अत्यन्त सरल, सक्षिप्त, सीधी-सादी एव ओजपूर्ण है। नाटक के नायक कुवरसिंह की वीरता, साहस, त्याग एव देशप्रेम का अद्भुत चित्रण इस नाटक मे हुआ है। लेकिन वस्तु-सघटन के प्रयोग मे इस कृति को "नाटक" की सज्ञा देने मे कुछ सकोच होता है क्योकि इसमे अक या दृश्य योजना का अभाव है। इस सदर्भ मे स्वय नाटककार ने लिखा है—' लेकिन है यह पहाडी धारा ही, न इसमे अको, दृश्यो का बन्धन है, न विद्वानो की भाषा का सौष्ठव और न जीवन के आगे वह स्पष्ट दर्पण, जिसकी झलक आजकल नाटक की जान मानी जाती है।" लेकिन अभिनयत्व इसका मूलाधार है, इसलिए वस्तु-सघटन के अन्तर्गत यह एक नवीन प्रयोग है। "गगन सवारी" उनका एक अन्य ' कठपुतली नाटक" है। इसका आरभ कठपुतली के रगमच से होता है। आरम्भ म अपने टट्टू पर चढा हुआ जमाल आता है। वह मामूली जुलाहे का नौकर है तथा भारतवर्ष के नारे से लगता है कि मेहनत मशक्कत, फुरती-चुस्ती ही आज के भारत का नारा है। वह प्रगतिशील स्वभाव का है। वह निरन्तर आगे बढना चाहता है। लेकिन घोडे के रुक जाने पर वह उतर कर "अग्रेजी मेम" की वेशभूषा पर व्यग्य करता है तथा विलायती कपडो के विरुद्ध आवाज उठाता है। उसके बाद देसी हथकरघे के कपडे की विशेषता बतलाता है तथा अपने मालिक झुमन जुलाहे के बारे मे बतलाकर मच से चला जाता है। झुमन कपडे बुनना छोडकर राजकुमारियो के सपनो मे खो जाता है। वह सोया-सोया ही प्रदेश-प्रदेश घूमकर कश्मीरी, पजाबी, बगाली लडकियो को विवाह के लिए प्रेरित करता है लेकिन कोई भी लडकी झुमन के साथ आना पसन्द नही करती। अत मे उसकी पत्नी अनारो उसे गुस्से मे आकर उठाती है और वह अनारो के साथ गगन सवारी पर चढकर घर चला जाता है और अन्त मे जमाल यह कह कर वहा से खिसक जाता है "दुनिया है चलती चक्की, तुझको मुझको कैसी लाज।" इस भाति इस लघु कथा ने नाटक का रूप ले लिया है। इसमे न तो अक हैं और न दृश्य है। इसमे नाटकीय भाषा का सौष्ठव तथा जीवन के सम्मुख वह स्पष्ट दर्पण जिसकी झलक आज नाटक का मूलाधार कही जाती है, इसमे मिलती है। इसमे लेखक ने आरम्भ मे ही रगमचीय निर्देश भी दिए है तथा दो पात्रो के मध्यस्थ यह नाटक मच पर खेला गया है। वास्तव मे यह समस्या प्रधान सामा-

जिक नाटक है। इसमे कार्य-व्यापार बहुत प्रबल है। उनकी नाटकीय कथावस्तु काव्यात्मकता से परिपूर्ण है। क्योंकि काव्य और नाटक की सम्बन्ध सूत्रता प्राचीन नाट्य-परम्परा से सिद्ध है।

मानवतावादी विचार होने के नाते माथुर ने अपनी नाट्यवस्तु को अधिक विस्तृत एव व्यापक बनाने की भरपूर चेष्टा की है। "शारदीया' इसका प्रमाण है, अत इनकी नाट्यवस्तु रोमाचक और कौतूहलवर्धक बन पाई है। उनके सभी नाटको के कथानक सुखान्त नही हैं, वे प्राय त्रासद हैं, मगर करुणाजनक कदापि नही। करुणा के स्थान पर यह दर्शकीय अथवा पाठकीय वैचारिकता को उत्तेजित करते है, इसलिए उनका अन्तिम प्रभाव मूल्यपरक एव निर्माणात्मक है। माथुर जी एक कुशल कलाकार है। घटनाओ के चयन और उनके पारस्परिक गुम्फन मे वे सिद्धहस्त है। अत उनके नाटको का वस्तु-सयोजन अन्तर्द्वन्द्वो से पूरित, मगर शिथिलता की सम्भावनाओ से आशकित नही हैं।

नाटक दृश्य-काव्य हैं, इसीलिए काय-व्यापार की अवस्थाए, अर्थ प्रकृति तथा सधिया उनके अनिवार्य एव प्रभावशाली तथ्य हैं। श्यामसुन्दर दास कहते हैं कि 'सस्कृत आचार्यों ने सम्पूर्ण कथावस्तु को पाँच भागो मे बाटा है। जो कि नाट्य रचना व विभागो स सम्बन्ध रखती है (रूपक रहस्य)।' आज का नाटककार प्राय इन रूढ़ियो व यान्त्रिक नियमो मे बधने की अपेक्षा कथावस्तु को शृंखलाबद्ध, सुसगठित एव सुव्यवस्थित बनाने तथा उसम नाटकोचित उतार-चढाव की स्वाभाविकता लान क लिए अधिक सचेष्ट रहता है। अत जगदीशचन्द्र माथुर ने भी अपने नाटको म ऐसी कथावस्तु को स्वाभाविक रूप से विकसित करन तथा व्यापार स्थिति पर विशेष बल देन का प्रयास किया है। वह यह मानते थे कि बधी हुई योजना का पालन करने से रचनाए यन्त्रबद्ध हो जाती है और अत स्फुरन भी कुण्ठित हो जाता है, अत हम कह सकते हैं कि उनके नाटक मौलिक होते हुए भी सदैव रूढियो का विद्रोह करते है। उनकी अनुभूतियो के अनुरूप ही रचना का क्रम स्वय बनता ढलता जाता है और उसकी उठान, निर्वाह और अन्त सब कुछ स्वाभाविक एव अपेक्षित हाते ह।

२ पात्र-परिकल्पनात्मक प्रयोग

जगदीशचन्द्र माथुर के विषय की परिधि विस्तृत होने के कारण पात्रो का चयन भी पुराण, इतिहास के विस्तृत क्षेत्र से हुआ है। विभिन्न वर्गों एव जातियो का प्रतिनिधित्व करत हुए भी ये पात्र अपना विशिष्ट रूप सुरक्षित रखते हैं। पात्र कथावस्तु के सजीव सचालक होते है। इसी कारण यह जब तक वस्तु विन्यास और चरित्र सम्बद्ध नही होत, तब तक वस्तु सयोजन का विस्तार नही हो पाता। पात्र एक ओर साधक है तो दूसरी आर साध्य भी। अपने नाटको की पात्र-परि-

कल्पना मे माथुर जी का अतिशयपूर्ण मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रति आग्रह तो नही, किन्तु मनोविज्ञान का उस सीमा तक आधार अवश्य लिया है। जिसके बिना पात्रो को सजीवता प्रदान नही की जा सकती। उनकी नजर कथ्य पर टिकी रहती है। मगर उनके पात्र विभिन्न यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक स्थितियो से गुजर-कर ही वहा तक पहुचते है। उनके अधिकाश पात्र उपदेश न देकर नियति को भोगते हुए अधिक प्रतीत होते है। मानव सुलभ ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ, हिंसा, पूर्वग्रह, प्रतिशोध तथा गुटबदिया भी उनकी दृष्टि से ओझल नही है। लेकिन प्रयोगवादी नाटककार का विश्वास है कि मानव अन्ततोगत्वा दूसरे मानवो से बधा हुआ है और एक दिन वह अवश्य समझेगा कि उसकी वास्तविक यात्रा 'स्व" के दायरे से बाहर निकलकर ही आरम्भ होती है। इसीलिए उनके सभी पात्र विकास-शील हैं।

जगदीशचन्द्र माथुर के पात्रो को दो वर्गों मे विभाजित किया है—१ पात्र (पुरुष वर्ग), २ पात्रिया (स्त्री वर्ग)। उनके नाटको मे पात्रो की सख्या सन्तुलित है। जिससे नाटकीय सम्प्रेषणीयता को बल मिलता है। 'कोणार्क" मे कुल ११ पात्र, शारदीया मे १६ पात्र, कुवरसिंह की टेक मे १९ पात्र, गगन सवारी मे दो पात्र, पहला राजा मे २१ पात्र तथा दशरथनन्दन मे ३० पात्र है, जो बाह्य दृष्टि से अधिक सख्या मे प्रतीत होते हैं मगर इसमे गौण सहायक पात्र ही अधिक है। एति-हासिक अथवा पौराणिक साक्ष्य की अवहेलना से बचने के लिए कही-कही उन्होंने अधिक पात्रो की अवतारणा की है। किन्तु ऐसे नाटको की इस सीमा की पहचान करके ही मूल्याकन किया जाना चाहिए।

नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटकीय कथावस्तु को आगे ले जाने वाला (प्रति-निधि) प्रधान पात्र नायक कहलाता है। धनजय के अनुसार उसे विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियवद, शुचि, रक्तलोक, युवा स्थिर, लोकप्रिय, स्मृति, सम्पन्न, उत्साही, बलवान, आत्मसम्मानी, शूर, दृढ, तेजस्वी, धार्मिक नेता होना चाहिए। उसमे इन सभी गुणो का समाहार होना चाहिए। आचार्यों ने स्वभाव भेद से चार प्रकार के नायको की कल्पना की है। धीर प्रशात धीरोद्धात धीरोदात्त, धीर ललित। माथुर के नाटको के मुख्य पात्र कथावस्तु के केन्द्र मे स्थित होकर निरतर कर्मरत, कर्म के प्रति अनासक्त और असीम शक्ति के आश्रय होने पर भी, अपनी वैयक्तिक और सामाजिक परिस्थितियो से निरन्तर जूझते हुए, जीवन व्यतीत करते हुए दिखाई देते है। वे किसी एक वर्ग के प्रतिनिधि बन कर सत्-असत् के सघर्ष मे कूद पडते हैं। उनके नाटकीय पात्र युग भावना के विराट् प्रतिनिधि हैं। कोणार्क मे "धर्मपद" और 'विशु" कला की दो युग प्रवृत्तियो के द्योतक बनकर आए हैं। विशु के लिए कला का रहस्य चयन मे है और धर्मपद जीवन के पुरुषार्थ से अलग

कला को खेल समझता है। "शारदीया" मे नरसिंहराव के चरित्र द्वारा मानवतावादी दृष्टि, अर्थात् हिन्दू मुस्लिम एकता की दृष्टि दिखाई देती है। काफी हद तक वह गाधीवादी युग का प्रतिनिधि पात्र है। पहला राजा की अवधारणा मे समस्त मानवता के कल्याण का भाव है। "पृथु" सारे युग का प्रतिनिधि है। इसमे कोई सदेह नही कि माथुर पात्र को विचार अथवा समस्या से जोडने मे विश्वास रखते हैं। इसके साथ ही भाव-प्रवणता कल्पनाशीलता, स्वप्नदर्शिता उनके पात्रों की मुख्य विशेषता है। विशु, धर्मपद, नरसिंहराव, बायजाबाई, पृथु, इर्वी कुछ ऐसे ही पात्र हैं। "दशरथनन्दन" मे 'तुलसीदास' और 'राम' नामक पात्रों के माध्यम से "रामचरितमानस" की कथा वर्तमान समाज तक पहुचाने की कोशिश की है। वह *अस्वीकारता और भर्त्सना के युग की पीढी* के सामने मानव को पेश करते हैं। राम मे 'ह्यूमन इण्टरेस्ट' का व्यवहार है तो वहा पर तुलसीदास की आवाज प्रतिध्वनिस्वरूप सुनाई पडती है। वास्तव में यह एक धार्मिक नाटक है। उपरोक्त विशेषताओ के कारण माथुर के नाटको मे विशिष्ट ही नही साधारण से साधारण पात्र भी अपने विशिष्ट रगो मे उभरते हैं। "शारदीया" की रहीमन, सरनाबाई, सरदार जिन्सेवाले, "कोणार्क" के सोम्यनी दत्त, शैवालिक, "पहला राजा" के सूत, मागध, सुनीता, दासी तथा "दशरथनन्दन" मे वसिष्ठ, विश्वामित्र, शतानन्द तो "कुवरसिंह की टेक" मे हरिकिशन सिंह, निशान सिंह आदि। ये सब पूरक चरित्र के रूप मे आते है, 'किन्तु इसके साथ यह भी सोचने की अनिवार्यता है कि नाटककार अपनी सारी शक्तियो तथा उपकरणो को केवल नायक के चित्रण म नही लगा देता, व नायक का चरित्र उतनी ऊचाइयो को छूता है कि वह सामान्य स विशिष्ट लगे और न सामान्य पात्र इतना साधारण दीखता है कि उसकी भूमिका नगण्य प्रतीत हो।' (गोविन्द चातक नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर)

इसके साथ ही ऐसे पात्र भी माथुर के नाटको मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं जो नाटक मे चर्चित मात्र है, पर मच पर उपस्थित नही होते। इनमे "कोणार्क" की सारिका, "शारदीया' मे गोविन्दराय काो, "पहला राजा" मे मुचण्कि और "दशरथनन्दन' मे सभी पात्र मच पर आते है। "कुवरसिंह की टेक" मे रितुभजन सिंह, रणदलन सिंह आदि इसी अथ म प्रतीक चरित्रा तथा ऐतिहासिक पात्रो का वैशिष्ट्य भी विचारणीय है। इतिहास उनके पात्रा के लिए सूत्र है, रूप नही। कल्पना के सामन एतिहा सक सत्य की खाज निरर्थक हो जाती है किन्तु कल्पना भी ऐतिहासिक सूत्र की दिशा मे ही उडान भरती हुई है। पात्रो मे दोनो का मिश्रण मिलता है। लेकिन जहा तक प्रतीक पात्रो का प्रश्न है, वे, "पहला राजा" मे ही आए हैं। यह प्राय दुहरी अर्थ योजना प्रदान करते है। अत जगदीशचन्द्र

माथुर की पात्र-परिकल्पना मे नवीनता इस बात मे है कि उन्होने पात्रो की स्थिति शास्त्रीय दृष्टि से स्थिर करने की अपेक्षा उन्हे मानवीय और सामाजिक सदर्भ मे देखने का प्रयास किया है।

उनके नाटको मे पात्र-सख्या कम होती है। वे नाटको मे इतने अधिक पात्र नही रखते कि रगमच पर पात्रो की भीड लग जाए। उनके नाटको मे स्त्री पात्रो का प्राय अभाव है। "कोणार्क" तथा "कुवरसिह की टेक" मे कोई भी नारी पात्र नही है। "शारदीया" मे सोलह पात्रो मे से केवल तीन नारी पात्र है। यहा तक की "पहला राजा" मे भी तीन ही नारी पात्र है।

जगदीशचन्द्र माथुर की पात्र-परिकल्पना की सीमा यह है कि उन्होने यथार्थ चित्रण के सम्मुख घुटने नही टेके पात्रो की चारित्रिक विशेषताओ के उद्घाटन मे उनकी सूक्ष्मपर्यवेक्षण शक्ति, अद्वितीय सृजनात्मक प्रतिभा, लोकव्यवहार तथा जीवन का सीमित एव व्यापक अनुभव, इतिहास का गम्भीर अध्ययन, उनकी कल्पना, दर्शन तथा कवित्वमयी शैली का नवीन प्रयोग उनकी नाट्यकला की विशेषता है।

३. नाट्य-शैली विषयक प्रयोग

कलाकार स्वभाव से ही त्रिकालदर्शी होता है वर्तमान मे सीमित न रहकर उसकी दृष्टि अतीत एव भविष्य की तरफ भी मुडती है। पर जिन कलाकारो की दृष्टि भविष्य की ओर रहती है, वे सर्वथा नूतन प्रयोग की प्रवृत्ति से अधिक परिचालित होते हैं। परन्तु अतीत पर आश्रित कलाकारो की दृष्टि परम्परानुगत हो जाती है। हमारे आधुनिक नाट्य-साहित्य मे दोनो प्रकार की शैलिया अपनाई गई है। इसीलिए कुछ नाटक प्राचीन शैली मे लिखे गए है और कुछ नवीन शैली मे। इन दोनो की अपनी-अपनी विशिष्टताए हैं। तात्पर्य यह है कि यदि इस वर्गीकरण से यह सोचा जाए कि प्राचीन शैली के नाटको की कोई भी बात नवीन शैली के नाटको मे मिलेगी, यो यह असम्भव है। प्रत्येक आधुनिक नाटककार चाहे कितना भी प्रयोगवादी हो, रहता वह अपने ही युग मे है। प्रभावो या परिवर्तनो का प्रकाश रूप मे, चाहे वह जितना अस्वीकार करे, किन्तु उनमे से जो अनजाने ही, स्वाभाविक रूप मे, उसकी अन्त करण मे रम गए है, उनसे अपने को किसी प्रकार भी नही बचा सकता। इसलिए कभी-कभी नवीन मे प्राचीन और प्राचीन मे नवीन भी दिखलाई पड जाता है।

इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार, "शिल्प" शब्द "शिल्प" धातु और "पक्" प्रत्यय से निष्पन्न है। शिल्प कलात्मक निर्वाह की पद्धति है। यह किसी भी कला मे साधना की प्रणाली अथवा प्रतिपादित है।" शिल्प सच्चे अर्थ

"शारदीया" मे वायजाबाई का अनिद्य सौन्दर्य ऊषा की उज्ज्वल किरण और शरद् की पूर्णिमा का भाव, बिम्बो मे रूपायित हुआ है। बिम्ब का प्रयोग लेखक ने नरसिंह राव के सन्दर्भ मे किया है जिससे उनके आन्तरिक स्वप्नो, सूक्ष्म सौन्दर्यमूलक भावो के जैसे अत सृष्टिपरक बिम्ब-कल्पना के माध्यम से उभारे गए हैं, वे उनके प्रयोग के परिचायक हैं। "पहला राजा" मे प्रतीको के बीच पृथु का बिम्ब आधिकारिक रूप मे उभरता है। वह प्रतीक नही है। वह तीन युगान्तरकारी परिवर्तनो का बिम्ब है। राजनीतिक व्यवस्था से सम्बन्धित आर्यों तथा आर्येतर जातियो से सम्बन्धित, खेती के नए साधन अपनाने की क्रिया से सम्बन्धित। नाटककार ने इन तीनो उपलब्धियो को पृथु के व्यक्तित्व के साथ जोडने का प्रयत्न किया है। गौ रूपा-पृथ्वी का बिम्ब इस नाट्य कृति को अद्भुत अर्थ और प्रकरण वक्रता से अनुरजित करता है। वस्तुत बिम्बात्मक शिल्प प्रयोग ने माथुर जी के नाटको को अनेकानेक नई दिशाओ मे उपलब्धि करवाई है, जिसमे अनुभूति और भाषा दोनो का ध्यान रखा गया है।

अनुभूति और अनुभवप्रधान शैल्पिक प्रयोग

कलात्मक लेखन सदैव अनुभूति और अनुभव पर आधारित होता है। कोणार्क की नाट्यानुभूति काव्यानुभूति की भावभूमि पर स्थित है। यही प्रमाणिकता शैली को विलक्षण शक्ति प्रदान करती है। इसका रचनातन्त्र पर पर्याप्त प्रभाव पडता है।

भविष्य का साकेतिक शैल्पिक प्रयोग

माथुर जी के नाटको का शिल्प भविष्य के प्रति जागरूक है। "कोणार्क" के प्रथम अक मे भविष्य के सकेत भी मिलते है। राजाराज चालुक्य का आतक, शिल्पी धर्मपद के विद्रोही स्वर और विशु द्वारा निर्मित नाट्याचार्य सौम्यश्रीदत्त का प्रतिमा के बल पर उकेरा गया कठहार—ये सभी भविष्य मे घटने वाले घटना-चक्र का उद्घोष करते हैं।

कवित्वमय शैल्पिक प्रयोग

"कोणार्क" से लकर 'दशरथ नन्दन' सभी नाटको मे माथुर जी ने कवित्वमय शैल्पिक प्रयोग किया है। 'कोणार्क" म कला विवेचन का तत्त्व प्रधान होने के कारण अनेक स्थलो पर सस्कृत पदावली का प्रयोग भी किया गया है। प्राजल एव काव्यात्मक शैली के कारण यह नाटक विशेष रूप से सफल हुआ है। "कुवरसिंह की टेक" कठपुतली शैली म लिखित है। इसमे भोजपुरी शैली के चिह्न मिलते है। 'गगन सवारी" का सम्पूर्ण प्रमुख कथ्य अथवा उद्देश्य कवित्वमयी शैली के रूप म उभरकर सामने आता है। 'दशरथनन्दन" नाटक रामचरितमानस के 'पदो" पर आधारित रग नाटक है जिसमे काव्य-रस का आनन्द उठाया जा सकता है।

मध्ययुगीन भाषा नाटकों तथा प्राचीन पाश्चात्य नाटको के शिल्प का प्रयोग

सरचना शिल्प की दृष्टि से नाटककार ने 'कोणार्क'' मे भारतीय और पाश्चात्य स्वराविधियो का मौलिक उपयोग किया है। उपक्रम और उपसहार मे प्रयुक्त कथा गायन और अतीत की कथा को वर्तमान से जोडने का व्यापक आयाम भी प्रदान करते हैं और कथ्य को अधिक सघन, तीव्र और प्रखर भी बनाते है। "कोणार्क" मे 'वृन्द वार्तिक' का अभूतपूर्व प्रयोग वास्तव मे मध्ययुगीन भाषा नाटकों तथा प्राचीन पाश्चात्य नाटको के शिल्प के प्रभाव के कारण है। इसको नाटककार "कोणार्क" की भूमिका मे स्वीकार भी करता है। इसके साथ वह सूत्रधार तथा नट का विशेष स्थान भी निर्धारित करता है। वह यह स्वीकार करते हैं, "इन नाटको की शैली और आत्मा मे जमाने की प्रतिध्वनि मिलेगी (भोर का तारा)।"

नाट्य-शिल्प की दृष्टि से भी माथुर जी का प्रयास प्रशसनीय है। इनकी विशेषता उनके काव्यात्मक दृष्टिकोण मे प्रतीकात्मक दृष्टिकोण मे है। डॉ० सिद्धनाथ कुमार कहते हैं -"जिस नाटककार का दृष्टिकोण काव्यात्मक होता है, वह जीवन के विस्तार मे नही जाता, उसकी गहराई मे उतरता है (हिन्दी एकाकी की शिल्प विधि का विकास)।" माथुर ने अधिकाश नाटको मे यही किया है। उन्होने घटनाओ के विस्तार की जगह जीवन की एक मार्मिक घटना को लिया है। और उस पर अपने नाटक को आधारित किया है। उन्होने काल के विस्तार के स्थान पर जीवन के मार्मिक क्षण को पकडा है और उसी मे डूबने का प्रयास किया है। नाट्यशैली के क्षेत्र मे जगदीशचन्द्र माथुर का कार्य विशेष महत्त्व का है। नाटक के प्रारम्भिक स्थान मे ही वस्तुस्थिति का सक्षेप म निर्देश होता है किन्तु आगे चलकर विकास, सघर्ष उत्तरोत्तर तीव्र होता जाता है और विविध उपादाना से गति सग्रह करता हुआ नाटक चरमोत्कर्ष तक बढता है।

४ भाषायी प्रयोग

जगदीशचन्द्र माथुर के नाटको की भाषा परिष्कृत एव सरल है। उनकी भाषा न प्रेमचन्द के समान मुहावरेदार है और न ही प्रसाद की तरह सस्कृतनिष्ठ, अपितु यह दोनो की मध्यवर्तिनी है। भाषा को बोझिलता से बचाने के लिए नाटककार ने क्लिष्ट एव अप्रचलित शब्दो को यथासम्भव बचाया है लेकिन वहा प्रादेशिक भाषाओ या उप भाषा का प्रयोग किया है। पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। वास्तव मे 'भाषा भवाभिव्यक्ति का माध्यम है। यह ऐसे सार्थक शब्द समूहो का नाम है जो एक विशेष क्रम से व्यवस्थित होकर हमारे मन की बात दूसरे के मन तक पहुचाने की, इसके द्वारा उसे प्रभावित करने मे समर्थ होते हैं (श्यामसुन्दरदास, साहित्यलोचन)।" हमारे यहा प्रसाद तक जाते-जाते नाटक की भाषा एव साचे मे ढल चुकी थी और नाटककार के पास भाषा के नाम पर एक

ऐसी शब्द योजना मात्र रह गई थी जो इतिहास और काव्य ग्रन्थो की देन थी। प्रसाद के बाद जिस तरह साहित्य का कथ्य बदला वैसे ही भाषा की भगिमा भी बदली। ऐतिहासिक और पौराणिक नाटको की भाषा सस्कृतमयी होती चली गई और यथार्थवादी नाटको की भाषा बाजारू, पर जगदीशचन्द्र माथुर ने उस परपरा को भग करके आधुनिक सवेदना और समसामयिक सदर्भ वाली शब्दावली का प्रयोग कर दिखाया है। उससे नाटक अतीत से वर्तमान की ओर अग्रसर होता है। माथुर जी की भाषा नूतन शब्दावली, अर्थवत्ता, रागात्मकता, सहज तथा निजी बाकपन से ओतप्रोत है। गोविन्द चातक के शब्दो मे—"उस भाषा मे स्पष्टत एक ओर आत्माभिव्यक्ति की आकाक्षा, भाव-प्रवणता, वाग्मिता, अलकरण आदि की प्रवृत्ति है, दूसरी ओर भाषा के यथार्थवादी स्तर से निभाने का प्रयत्न। इसलिए उसका आग्रह अर्जित सवेदना और साहित्यिक स्वरूप के साथ-साथ बोलचाल की ओर भी दिखाई देता है।" "कोणार्क" नाटक की भाषा स्थान-स्थान पर काव्यमय हो गई है उनमे कला विवेचन का तत्त्व प्रधान होने के कारण अनेक स्थलो पर सस्कृत शब्दावली का प्रयोग भी किया गया है। कोणार्क की भाषा में प्रवाह है तथा इसमें साहित्यिक एव परिमार्जित हिन्दी प्रयुक्त हुई है। अपनी भाषा के सम्बन्ध मे माथुर जी लिखते हैं—"यो तो इस नाटक के विषय मे मुझे अनेक रोचक अनुभव हुए, किन्तु सबसे दिलचस्प अनुभव हुआ, दिल्ली के अग्रेजी समाचार पत्रो मे इस नाटक के अभिनय की समालोचना पढकर। उनमे से एक समालोचक महोदय ने लिखा कि इस नाटक का बहिष्कार होना चाहिए क्योकि लेखक ने यह नाटक सस्कृतमयी हिन्दी का प्रचार करने के लिए लिखा है।"

माथुर ने ऐतिहासिक कथ्य म उसी सस्कृतनिष्ठ भाषा के दायरे को पार करने का भी प्रयत्न किया है। उन्होने सस्कृत के साथ साथ उर्दू मे प्रचलित शब्दो का जानबूझ कर प्रयोग किया है। जैसे—

कोणार्क : मामला खर्रे मुफ्तखोर, मजदूर, नौकर रोज निशाना, जिम्मा गजब, कसरत, निगाह, गायब, अरमान, कारीगर आदि।

कुवरसिंह की टेक : तोमक रैयत फिरगी, अफसर, नियाम, जुलुम, नीयत, मौलवी, हरकत, गफ्लत, गोइन्दा जितोश, गोतिया इकरार, पठान, शेख आदि।

गगन सवारी : मशक्कत, पश्तू आदि।

शारदीया : वायदा, अरमान, लाजवाब, खिदमत, दामन, काफिला, हुनर, जश्न, आलीजाह, दस्ते, मजार दगा, खौफनाक, शमशीर, दस्तखत, तरक्की, खिलाफ, हिम्मत कैदी, हुकूमत, पोशाक, रिहाई, नियायत आदि।

पहला राजा : खुशामद, बेताब, तारीफ, मातम, खतरनाक, बेरहम, जिम्मेदारी, बेसमा, बेताब, असलियत, तदबीर, जाहिर आदि।

दशरथनन्दन : वत्स, खरोख, वयस्य, विप्र, तरकश, रमणीक आदि।

"कुवरसिंह की टेक" की भापा बोलचाल की है लेकिन भापा मे अनेक राजस्थानी, उर्दू, पजाबी शब्दो का चित्रण है। नाटक मे प्रयुक्त गीतो की भापा भोजपुरी है। इस नाटक मे कई कहावतें भोजपुरी भाषा की है—ओखली मे सिर दिया तो मूसल से क्या डर, चेहरे पर हवाइया उडना, नाग के बिल मे हाथ डालना, चीटी के पर निकलना, एक लुहार की सौ सुनार की, छड बडी के बियाह कनपटी मे सेगुर जडे किस धरती मे होना, ढोड की मेतर जाने कागेहुअन माथा हाथ, सोझ अगुरी को न आने, कूच करना आदि।

"गगन सवारी" कठपुतली नाटक मे विविध भापाओ का समावेश है। क्योकि इनमे गगन सवारी बारी-बारी से अलग-अलग प्रदेश मे उडकर जाती है और उसी प्रदेश की भापा मे प्रत्येक लडकी गीत गाती है। पहले मालवी लोकगीत जैसे —"थारे सोना का झाझरिया, धारे साना का झांझरिया।" पजाबी लोकगीत—"मैं तो परी पाच दरियाव की।" कश्मीरी लोकगीत—"आ रे बेसर के फूल, बता तो सही, क्यू मुझ पे न प्यारी निगाह पडे।" राजस्थानी लोकगीत—"सरवर पाणोडे न्हे जाउ वा निजट लग उपाय।" गुजराती लाकगीत—"ताल हैडा ताल गौरी घर मे घुमी धाल रे।" महाराष्ट्रीय लाकगीत—'पीसू वी चक्की अन्त भरा, हा घर मे मेरे अन्त भरा।" कर्नाटक लोकगीत—"सुवरन सोना अन्दर रखती, कन्नडवासी का मन हर्त्ती।" केरल लोकगीत—"श्यामल सुन्दर की मुरली धुन, बास के वुवन बीच दासी।"

'शारदीया" नाटक की भापा अत्यन्त सरल, सक्षिप्त, स्वाभाविक, ओजपूर्ण तथा पात्रानुकूल है। इसमे काव्य की मधुरता है। वीणा की झकार है। मुहावरो का प्रयोग बडी सुन्दरता से किया गया है। भापा के सुन्दर प्रवाह मे दर्शक का मन खो सा जाता है। भापा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

१. 'सुबह-शाम जब मन्दिर मे आरती होती है तो घण्टो की ध्वनि और मृदग की ताल उड उडकर मेरे पास आती है और मडराती है।"

२ "दो वर्ष मे चचल तितली मधुरिमा भरी मयूरी बन गई है, यह आज मैंने देखा।"

अत जहा लेखक जागरूक है, वहा कही-कही नाटककार शब्दो का पारखी बन जाता है। वह लोक जीवन के शब्दा को मोतियो की तरह चुनता है जैसे—बयार, ठठरी, डगर, अटारी, खटना आदि।

"पहला राजा" मे सम्पूर्ण मिथकीय, ऐतिहासिक कथ्य की सस्कृत शब्दावली, अरबी-फारसी, देशज तद्भव शब्दो पर खडा करते है। 'कोणार्क" म नूतनता के प्रति आग्रह होने के कारण छायावाद का प्रभाव है। "शारदीया" म यथार्थवादी प्रवृत्ति तथा काव्य-तत्त्व उभर कर आता है। "पहला राजा' म पुरातन कथ्य के अनुरूप सस्कृत शब्दावली का प्रयोग है। परन्तु उसके प्रति मोह नही है। जयदेव तनेजा कहते हैं—"इसकी भाषा मे अधिक नाटकीयता है, बोलचाल के साथ काव्यात्मक तथा अभिव्यजनापूर्ण भाषा का सहज समन्वय है (आज के हिन्दी रग नाटक)।" जैन के अनुसार—'लोकनाट्य परम्परा की अनेक रूढियो, युक्तियो और व्यवहारो का प्रयोग है जो हिन्दी नाट्य लेखन के लिए बहुत ही नया है (आधुनिक हिन्दी नाटक और रगमच)।"

"दशरथनन्दन" के सम्बन्ध म यह कहा जा सकता है वि नाटक की परम्परा का मूलस्रोत जन नाटक ही है। अत इस नाटक ने जन नाटको की एक शाखा से विकसित होकर साहित्यिक रूप धारण किया। लगभग इसी मत का समर्थन करते हुए माथुर भी नाट्य-रचना का विकास भक्तिकाल से स्वीकार करते है और राम चरितमानस को मूल मे रखकर उन्होने प्रस्तुत नाटक की रचना की है।

सारांश म हम कह सकते हैं वि माथुर जी ने अतीत के पट पर वतमान के चित्र बडी कुशलता से अकित किए हैं। अगर हम उनके नाटको पर यह आरोप लगाए कि उन्होने केवल पुरातन को ही खोजने का प्रयास किया है तो गलत होगा बल्कि उन्होंने ऐसा न करके नाटको मे आधुनिकता के मनोविज्ञान को खोज निकाला है। उनकी कृतियो मे प्रत्यक्ष एव परोक्ष रूप से तत्कालीन भारतीय जीवन का उद्वेलन तथा राष्ट्रीय आदोलन के साथ-साथ सामाजिक रूढियो और परम्पराओ का तिरस्कार स्पष्ट परिलक्षित होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ये रचनाए उस काल की राजनीतिक, सामाजिक एव धार्मिक स्थिति का यथार्थ परिचय देने के साथ तत्कालीन वातावरण का यथार्थ अकन करती हैं।

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि माथुर के नाटको का नाट्य शिल्पात्मक परिप्रेक्ष्य भी उतना ही समृद्ध है जितना कि उनका विषयगत, सवेदन पक्ष। यद्यपि शिल्प के प्रति उनकी दृष्टि उन अर्थों मे अधुनातन नही है जिन अर्थों मे सातव और आठवें दशक का हिन्दी नाटक शैल्पिक प्रयागो मे कई नाट्यशैलियो को अपना कर चला है। तथापि अपने गुण और उसकी रगमचीय सीमाओ को तोडने की ललक उनमे स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। वस्तुत शिल्प उनके लिए कथ्य का उजागर करने का एक मात्र उपकरण रहा है। इसस परे उसकी स्वतन्त्र सत्ता उन्ह स्वीकार्य प्रतीत नही होती। इसीलिए उनके नाटको म विभिन्न प्रकार क प्रयोग मिलते हैं। अत नाट्यात्मक शिल्प उनके लिए सदैव साधन रहा है, साध्य का समतुल्य कदापि नही। ●●

७

जगदीशचन्द्र माथुर के नाटको में रगमचीय प्रयोग

नाटककार की वह अन्तर्दृष्टि जो उसकी रचना को दृश्यात्मकता अथवा रग-मचीयता क आयाम प्रदान करती है, उसकी रगमचीय प्रस्तुती कहलाती है। इसे हम रग चेतना भी कह सकते है। अत अनिवार्य होता है कि लेखन की प्रक्रिया म उसका रगमच सम्बन्धी ज्ञान परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप मे उसकी रचना-सामर्थ्य को निरन्तर समृद्ध करे। इसके अभाव मे नाटक के मात्र साहित्यिक अथवा बाह्य बनने का खतरा रहता है। और रगकर्मी उसे प्रस्तुत करने से कतराते है। कई बार नाटककार के इस प्रयास के बावजूद उसकी कृतियाँ प्रयोगहीन तथा अनन्य सम्भावनाओ से वचित सी लगती है क्योकि यह रगधर्मिता की अनुभूति के साथ जोडकर सृजनात्मकता का अनिवार्य घटक बनने क स्थान पर उसे मात्र चिपकाकर रह जाता है। जगदीशचन्द्र माथुर के समकालीन नाटककारो की यही एक सीमा थी। जिसे लाघने का प्रयास उन्होने अपने नाटको मे किया है और इस प्रकार गहरी रगचेतना का परिचय दिया है। उनकी रगानुभूति बाहर से थोपी हुई कोई टकर प्रेरणा न होकर उनके हृदय से स्वत उठती हुई एक भीतरी शक्ति है जिसके माध्यम से वह समर्थ नाटककार होन की पहचान देते हैं। नाट्य-प्रस्तुति के प्रति पूर्णत जागरूक रहकर उन्होंने सिद्ध किया है कि नाटक की सार्थकता नाट्य बनने मे है क्योंकि नाटक लेखन की प्रक्रिया रचनाकार द्वारा लिख दिए जान पर ही समाप्त नहीं होती बल्कि उसका पूर्ण प्रस्फुटन एव सम्प्रेपण रगमच पर आकर होता है। यही कारण है कि उनके नाटक साहित्यिक और रगमचीय होन की दोहरी भूमिका निभाते हैं। उनकी रगनिष्ठा का सबसे बडा प्रमाण यह है कि उन्होंने अपने नाटको म न केवल रगनिर्देश दिए हैं अपितु रगमच के आकार-प्रकार तथा दृश्या के अभि-

कल्पन को ज्यामिति की रेखाओं में भी प्रस्तुत किया है। अत उनकी रंगचेतना का स्वतन्त्र अध्ययन तथा विश्लेषण अत्यन्त अपेक्षित है।

किसी भी सफल नाटककार की रंगमंचीय प्रस्तुति प्राय आयामों में अभिव्यक्त होती है—

१ अनुभूति के स्तर पर रंगप्रक्रिया के माध्यम से

२ अभिव्यक्ति अथवा सम्प्रेषणीय प्रस्तुति के स्तर पर रंगकर्म सम्बन्धी तकनीकी अथवा इतर ज्ञान के माध्यम से।

इन दोनों आयामों का परिचय उनके नाटकों की संरचना म उपलब्ध होता है। रंगमंचीय प्रस्तुति माथुर के नाटकों की मूल प्रकृति है और रंगकर्म का ज्ञान उन्हें वास्तविक अनुष्ठानिकता प्रदान करता है। अत मुख्य रूप से, माथुर की रंग चेतना का अध्ययन दो शीर्षकों में समेटा जा सकता है —

क रंग-प्रक्रिया—

ख. रंग-कर्म —

क रंग प्रक्रिया	ख रंगकर्म
१ लेखकीय रंगचेतना के प्रयोग	१ मंचाभिकल्पन के प्रयोग
२ निर्देशकीय प्रयोग	२ लोकगीतों, लोकनृत्यों तथा कलाओं के प्रयोग
३ अभिनय सम्बन्धी प्रयोग	३ प्रकाश व्यवस्था के प्रयोग
४ दर्शकोन्मुखी प्रयोग	४ संगीत एवं ध्वनि का नया इस्तमाल
	५ वेश विन्यास म परम्परा और प्रतीकों के प्रयोग
	६ सम्प्रेषण के नए माध्यमों के प्रयोग।

नाट्य रचना अपने रूप ग्रहण के समय, लेखन से लेकर प्रेक्षण तक जिस यात्रा को तय करती है उसे रंगप्रक्रिया कहा जाता है। समर्थ नाटककार सदैव ध्यान म रखते हैं कि उनके निजी रचनाकार के अलावा नाटक की वास्तविक कार्य निष्पत्ति किसी निर्देशक के हाथों किन्हीं अभिनेताओं के माध्यम स किसी दर्शक समूह के लिए रंगमंच पर सम्पन्न होगी। इस प्रकार लिखते समय तो रचनाकार ही प्रमुख होता है मगर रचना की समाप्ति और रंगमंच पर उसके गमन के साथ ही निर्देशक, अभिनेता तथा प्रेक्षक की प्रतिभा प्रत्यक्ष रूप स उभरकर सामने आती है और कृति की सृजनात्मकता प्रस्तुति भी सृजनात्मकता की प्रक्रिया से गुजरती है। इस प्रकार

रचनाकार, निर्देशक, अभिनेता तथा दर्शक नाट्य की रगप्रक्रिया के अनिवार्य घटक बनते हैं। जगदीशचन्द्र माथुर का नाटक लेखक इन सबसे भली भाति सुपरिचित है और सबकी शर्तों का अपन ढग से निर्वाह करता है। यही कारण है कि वह अपने पूर्ववर्ती नाटककारो से प्रभावित होकर भी उनकी लीक पर नही चलता और अपने समकालीन नाटककारो से आगे निकलन की कोशिश करता है।

१ लेखकीय रगचेतना के प्रयोग

रग प्रक्रिया की सार्थकता लेखकीय रगचेतना पर निर्भर करती है। शब्दो म नाटक की रचना करने वाले लेखक की अपनी सुविधाए और सीमाए होती हैं। क्योकि "नाटककार अप्रत्यक्ष रूप से अपनी रचना मे कुछ भी नही रख सकता। उसे जो व्यक्त करना होता है वह पात्रो द्वारा ही कहला सकता है। अभिनय के माध्यम से वह समाज के दृश्य को अधिक सहजतया और गभीरता से छू सकता है।" (मानविकी पारिभाषिक कोश, साहित्य खण्ड)। भरत न अपने नाट्य शास्त्र के भूमिका पात्र विकल्प नामक पैंतीसवे अध्याय म कहा है, "जो व्यक्ति शास्त्रा म बताए हुए सात्त्विक भावो को पात्रो म प्रतिष्ठित करता है वह नाट्यकार कहलाता है।" (सीताराम चतुर्वेदी, भारतीय तथा पाश्चात्य रगमच)। आचार्य चतुर्वेदी ने बडे भ्रामक ढग से नाटककारो का वर्गीकरण किया है। उनक अनुसार नाटककार पाच प्रकार के होते हैं— आदर्शवादी, सम्भावनावादी, वस्तुवादी, भाग्यवादी तथा प्रयोगवादी। यह वर्गीकरण उचित नही लगता क्योकि आदर्शवादी को सम्भावनावादी अथवा प्रयोगवादी होने स किसी भी प्रकार अलगाया नही जा सकता। अत जगदीशचन्द्र माथुर का जहा तक प्रश्न है वह सदैव सम्भावनाआ म जुटे हुए निरन्तर नए-नए प्रयोग करते रहे हैं। जब उन्होने नाट्य-रचना आरम्भ की थी, तब उन्ही के शब्दो म हिन्दी रगमच प्राय लुप्त था। किन्तु उनक नाटक रगमच की जागरूक अनुभूति और अनुभव के द्योतक है। उनका कथ्य रग तत्व से ओत प्रोत है। पात्र दर्शको के माध्यम से मच पर उतारे गए हैं, अहिंसावादी इतनी चुस्ती स उभरे है कि नाटक के क्रियाकलाप के ही अग बन जात हैं। व सवाद को सरस वार्तालाप, कविता और सूक्ति के स्तर पर उठा ले जाते है। सवाद क ही स्तर पर क्रियाओ, मुद्राओ, दृश्यात्मक बिम्बो और प्रेक्षक की कल्पना-शक्ति का भी उन्होने रगमचीय उपयोग किया है। उनके र ग सकेत इस बात के साक्षी है। नेपथ्य, मौन, खाली मच, प्रकाश और अधकार का भी मच के लिए वे महत्त्वपूण उपादान के रूप मे प्रयुक्त करते हैं। अत ऐसे दृश्यात्मक बिम्ब रगमच के लिए चुनौती प्रस्तुत करते हैं। स्वय लेखक इस तथ्य से परिचित लगता है। नाटक मे काव्यानुभूति रगतत्वो का निर्माण करती है। रगमच पर आने से पूर्व नाटक नाटककार का होता है जो अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा से नाट्य रचना ही नही करता, वरन्

रचना करते हुए उसके लिए रग तत्त्वों की भी अवधारणा करता है। वह प्रस्तुतिकरण का पूरा खाका भी प्रस्तुत करता है। जगदीशचन्द्र माथुर के नाटको में रगानुभव तथा रगानुभूति दोनो के दर्शन होते हैं। वे "कोणार्क" मे कहते हैं कि "मैंने जो कुछ लिखा है उस पर रगमच और नाट्य लेखन के तजुर्बे की छाप है।" माथुर जी का मच और अभिनय का अनुभव विद्यार्थी जीवन मे ही प्राप्त हो गया था क्योकि उन्होने कई नाटक खेले थे तथा स्कूल मे कई नाटको का निर्देशन भी किया था। उनका यही अनुभव उनकी कृतियो मे मिलता है। भाषा नाटका सम्बन्धी सकल्प ग्रथ तथा परम्पराशील नाट्य, लेख तथा निबन्ध इसके उदाहरण हैं। अत जगदीशचन्द्र माथुर के नाटको से स्पष्ट सकेत मिलता है। कि उन्होंने रगप्रक्रिया के सभी घटको मे वह रचनाकार को ही पहला स्थान दिया है यद्यपि वह निर्देशक, अभिनेता तथा प्रेक्षक के महत्त्व को समझते हैं तथापि वह रगमच पर वही घटित होता देखना चाहते है जो उनके रचनाकार की माग होती है। उदाहरणस्वरूप हिन्दू और मुसलमान एक ही परमात्मा की सन्तान हैं। उन्हे अपनी-अपनी पूजा-निमाज करने का अधिकार है।" (शारदीया)। पहला राजा" मे नाटककार पृथ्वी पर छाया अधकार दूर करने का भरसक प्रयत्न करते हुए कहते हैं— कोई दुविधा नही। मैं उस विनाशलीला को नष्ट करूगा। मै भूखण्डी का वध करूगा। तुम्हारा रक्षक तुम्हे बचा नही सकता। अधेरे की जजीर टूटकर रहेगी।' अत माथुर के नाटक एक बहुत बडी सीमा तक उनका परिचय देते है। उन्होने वर्तमान का नए प्रयोगो के द्वारा अपने नाट्य लेखन मे दर्शका के सम्मुख रखा है। अपने सभी नाटको मे, कथानक म वर्तमान की सगति म एतिहासिक, पौराणिक सन्दर्भ का प्रयोग किया है। अत इस प्रकार हम कह सकते है कि जगदीशचन्द्र माथुर प्रयोगशील रचनाकार के साथ रगकर्मी रचनाकार भी हैं। नाटककार के सम्बन्ध मे माथुर जी कहते हैं—' हरेक नाटककार को अपने अनुभव के दायरे मे से ही समस्याए और परिस्थितिया बेचैन करती हैं, और उन्हे उजागर करने के लिए वह पात्र और प्रसग खोजता है। उन्ह ही वह मच की परिधिया म बैठाता है। यही मैंने इस नाटक म किया है।" अत म वह प्रयोग के बारे मे कहते हैं— अत्यन्त सकोच और विनम्रता के साथ मैं सहृदय दर्शको और पाठका के समक्ष यह प्रयोग प्रस्तुत कर रहा हू। यद्यपि बढती आयु और तजुर्बों के बावजूद प्रयोग करने की धुन मुझ पर हावी रही है तथापि आवेश और उल्लास की वह आभा मुझे अब उडा नही ले जाती जिस पर सवार होकर मैं चुनौती के साथ अपनी रचनाओ के नएपन की घोषणा करता था।"

२ निर्देशकीय प्रयोग

नाटककार अपने नाट्यलेखन के दौरान अपने ही नाटको का निर्देशक भी होता है

ौर परोक्ष रूप से अपने पात्रो को मच पर हरकते करते हुए देखता है। जगदीश न्द्र माथुर ने अपने नाटको मे निर्देशक से टकराहट की बात नही की है। वस्तुत नके नाटक इस तथ्य का प्रमाण है कि मच पर उन्ह निर्देशक की स्वतन्त्र सत्ता वीकार्य है क्योकि जो बात लेखक न कही है उसे जीवन्त मचीय अभिव्यक्ति मे दलने वाला निर्देशक ही हो सकता है। अत इस प्रकार मच पर सही ढग से स्तुत करना एक सफल निर्देशकीय योग्यता पर निर्भर करता है।

नाट्य प्रस्तुति मे नाटक के सब तत्वो और साधना को व्यवस्थित रूप से कत्र करने और उन्ह अभिनय के लिए ठीक करन के पूर्ण शिक्षण को निर्देशन हत हैं। वास्तव मे निर्देशक को इसके साथ ही साहित्यकार अभिनता, सगीतज्ञ, चत्रकार एव लेखक भी होना चाहिए। हिन्दी शब्दसागर के अनुसार, ' निर्देशन रने वाला, दिखाने वाला, पथ प्रदर्शक।" मानक हिन्दी कोश—"निर्देश या निर्देशन करने वाला वह व्यक्ति जिसका काम किसी प्रकार का निर्देश करना हो।" हत अग्रेजी हिन्दी कोश, ' निर्देशक, सचालक, रगमच निर्देशक, चलचित्र निर्माता।" अर्थात् उसमे इन सभी योग्यताओ का होना अनिवार्य है। आचार्य रतमुनि ने "नाट्य शास्त्र" मे निर्देशक को सूत्रधार कहा है। आधुनिक पाश्चात्य नाट्याचार्यों के अनुसार सूत्रधार नाट्य प्रयोग का नियत्रक होता है।" वास्तव म ह समस्त नाट्य प्रयोग का मूलस्थान है जो कि कवि के नाट्य, उसके विचार, ल्पना को अभिनय एव अन्य विधाओ द्वारा रूप देता है समग्रता देता है, प्राण ता है।" (सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, भरत और भारतीय नाट्यकला)

निर्देशक रगमचीय प्रस्तुति का महत्वपूर्ण घटक है, जिसके बिना नाटक के योग की कल्पना ही नही की जा सकती, "वस्तुत निर्देशक ही नाट्य कृति को गमच के मुहावरे मे ढालकर उसका दृश्य काव्य के रूप म रूपान्तरण करता है।" गोविन्द चातक, रगमच कला और दृष्टि)। वास्तव मे निर्देशक ही वह केन्द्रीय त्र है जो नाट्य-प्रदर्शन के विभिन्न तत्वो को पिरोता है और "उसकी समग्रता ो एक समन्वित बल्कि सर्वथा स्वतन्त्र कला रूप का दर्जा देता है।" (नेमिचन्द्र ैन, रगदर्शन)। निर्देशक के योग से ही हिन्दी रगमच को नया स्तर मिल सका । वस्तुत "वह रगमच का नाविक है कुतुबनुमा इसके हाथ मे है, अत रगमच ो वाछित दिशा की ओर ले जाना उसका ही काम है।" (अज्ञात, भारतीय रग- मच का विवेचनात्मक इतिहास)। तभी तो प्रसिद्ध रूसी निर्देशक वास्तानगोव लिखते हैं—' निर्देशक प्रथमत और मुख्य रूप से सघटनकर्ता होना है। अपने विचारो, अपने सपनो और अपन सहयोगियो का सगठन करता है उसको अत्यन्त विनम्र होना चाहिए, ऐसा व्यक्ति जो रगशाला म सर्वाधिक प्रभूत हो सके। वह अभिनता और दर्शक का सबसे अच्छा दोस्त होता है।" (राजकुमार, नाटक और

रगमच)।

प्रत्यक निर्देशक को कुछ अनिवार्य गुणो से सम्पन्न होना चाहिए, अत जगदीशचन्द्र माथुर भी उनके मत से सहमत दिखाई देते हैं। वह गुण निम्नलिखित हैं-

१ रचना-प्रक्रिया मे निहित रूप सवेदना तथा उसके विस्तार को समझना।

२ प्रयोगधर्मिता होना, क्योंकि इससे निर्देशक नाट्य प्रस्तुति को नई मजिल प्रदान कर नाटक म निहित कथ्य का भी उद्घाटन करता है।

३ उसे सहधर्मियो के प्रति वांछित व्यवहार भी आना चाहिए।

कई बार सवेदनशील नाटककार समझता है कि निर्देशक द्वारा जैसा बर्ताव करता है इतना ही नहीं नाटक के साथ मनमानी भी करता है। नाटक सा वास्तव मे उसके लिए भी अपनी महत्त्वाकाक्षा का माध्यम भर है। 'निर्देशक वार्तालाप और अभिनय को एक निश्चित दिशा प्रदान करता है जिससे सम्पूर्ण नाटक धीरे-धीरे एक वांछित परिणाम पर पहुँचता है।" (सर्वदानन्द, रगमच)। कुछ अशो मे उसे डिक्टेटर होना चाहिए क्योंकि उसे काम लेना है। उसे यान्त्रिक उपकरणो की भी जानकारी होनी चाहिए। राजकुमार के अनुसार— "निर्देशक को अभिनेता के साथ रगमच के अन्य कामो, दर्शको और दर्शक-मडप पर भी ध्यान रखना चाहिए।" (राजकुमार, नाटक और रगमच)। इसके अतिरिक्त उसे सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना से परिपूर्ण होना चाहिए। अत प्रस्तावित नाट्य प्रस्तुति का अर्थ, प्रयोजन तथा आयामो की समझ के बाद ही एक अच्छा निर्देशक अपने अभिनेताओ, दर्शको के साथ सवाद की स्थिति मे खडा हो सकता है। इसलिए गोविन्द चातक के शब्दो मे कहना उचित है कि—वह सर्जन का पुन सर्जन करता है। (रगमच)।

जगदीशचन्द्र माथुर एक उचित निर्देशक की दृष्टि का निर्वाह भी करते हैं, क्योंकि उन्होने मच का ध्यान रखते हुए सामाजिक परिस्थितियो का सश्लिष्ट रूप अपने नाटको के द्वारा दर्शको तक पहुँचाने का प्रयत्न भी किया है। उन्होने दर्शको की रुचि का ध्यान रखते हुए ऐतिहासिक-पौराणिक कथानको का चयन किया है। साथ ही नाटक की विषयवस्तु, यथार्थ वार्तालाप, ऐतिहासिक एव पौराणिक चरित्र-चित्रण का भी उचित ध्यान किया है। क्योंकि निर्देशक की सफलता बहुत सीमा तक नाटक-चयन पर निर्भर करती है। प्रस्तुतीकरण की विधि का निर्धारण भी निर्देशक का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है। उन्हे इतिहास की, पौराणिक विषयो की पूरी जानकारी थी इसलिए "कोणार्क" मे मध्यकालीन उडीसा मदिरो की परम्परा म कोणार्क मन्दिर का चित्रण किया है। 'शारदीया" मे सन् १७६४ की मराठो और हैदराबाद के निजाम क बीच खर्दा के युद्ध का चित्रण है तो "पहला

राजा" मे ऐतिहासिक और पौराणिक कथानको का मिश्रण है। दशरथनन्दन पौराणिक नाटक है। माथुर के नाटक-चयन से लेकर प्रस्तुतीकरण तक की प्रक्रिया मे निर्देशकीय दृष्टि ही परिलक्षित होती है। उन्होने कोणार्क के परिशिष्ट मे निर्देशको के लिए उचित सकेत भी दिए हैं।

माथुर नही चाहते कि निर्देशक उनके नाटको के साथ हद से बढकर मनमानी करें। अत अपने लेखन मे वह निर्देशकीय सकेत भी बार बार देते है जैसे "सखी तेजी से जाती है दर्शको मे उत्सुकता मय सवाद, प्रकाश, दर्शक नारियो की दिशा पर उनकी आपसी बातचीत सुनाई पडती है—सीता के सखियो सहित आते समय सखियो का मगलगान, लेकिन नेपथ्य मे तुलसी और वृन्दपाठ तथा नर-नारियो की आपसी बातचीत उसके ऊपर स्पष्ट सुनाई पडती है।" (दशरथनन्दन)। इस प्रकार उनकी दृष्टि सदैव इस बात पर टिकी रहती है कि निर्देशकीय कृत्य कही कृति को मूल सवेदना से भटका न दे।

जगदीशचन्द्र माथुर के नाटक एक कुशल सवेदनशील तथा सृजनात्मक एव कल्पनाप्रवण निर्देशक की माग करते है। निर्देशक का गुण सम्पन्न होना उनकी पहली शर्त है। वह चाहते हैं कि उनके नाटको का मचन ऐसा निर्देशक करे जिस में नाटक-चयन की समझ हो, जो प्रस्तुतिकरण की तकनीकी विधि का निर्धारण कर सके तथा जो रगकर्मियो, सगीतकारो आदि मे तालमेल पैदा कर सके।

कुल मिलाकर जगदीशचन्द्र माथुर के नाटको के अनेक निर्देशकीय आयाम हैं। उनमे निर्देशक की अपेक्षाओ का पूर्ण निर्वाह है। वे निर्देशकीय सृजनात्मकता को चुनौती देते हैं, प्रस्तुतीकरण मे दिशा निर्धारण के अनेक विकल्प प्रस्तुत करते हैं, रगकर्म के प्रयोग को मनचाहा खुलापन देते है और आधुनिकता तथा युगीन सत्य का वाछित समावेश करते है।

३ अभिनय-सम्बन्धी प्रयोग

भारतीय आचार्यों ने नाटक को दृश्य काव्य माना है। नाटकीय साधन के रूप मे सवाद का जितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, उतना ही दृश्य विधान का भी है और उससे अभिनय का महत्त्व किसी प्रकार भी कम नही है, क्योकि काव्य के अर्थ को सामाजिको तक पहुचाने का सर्व-प्रमुख साधन अभिनय ही है। अभिनय" शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ बताते हुए सर्वदानन्द जी लिखते हैं—"अभिनय शब्द संस्कृत के "नी' धातु से बना है। 'नी" का अर्थ है पथ निर्देश। इसी धातु से नेता की व्युत्पत्ति होती है जो नेतृत्व रचने की क्षमता रखता है। 'अभि" उपसर्ग से नेतृत्व के अर्थ को अतिरिक्त बल मिलता है। (सर्वदानन्द रगमच)। हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार "अनुकर्ता अभिनेता कहलाता है।' मानविकी पारिभाषिक कोश के अनुसार—"अभिनेता वह व्यक्ति जो पात्र विशेष का अभिनय करता है।

उठी है और स्वय नाटक के सम्बन्ध मे लिखते है कि—मेरा निजी अनुभव है कि यदि रगमच पर मानस जैसे गौरवग्रथ प्रस्तुत किए जाए तो उनका काव्य सौन्दर्य-कथा और बुनियादी सन्देश सामान्य दर्शक अधिक आसानी से हृदयगम कर सकता है। ऐसी हालत मे निरायास ही बहुत-सी बातें उनके मन मे ठहर जाती है।

अत उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि जगदीशचन्द्र माथुर की नाट्य साधना अभिनवय सम्बन्धी प्रयोगो से ओतप्रोत है क्योकि उनकी नाट्य पद्धति भारतीय नाट्य परम्परा और कवि के प्रतिभा प्रयोगो से अलकृत है। उनकी नाट्य-पद्धति को समझते हुए कुशल अभिनेताओ के द्वारा साधन सम्पन्न रगमच पर उनकी नाट्य कृतियो का सफल आयोजन हुआ भी है तथा हो भी सकता है।

४ दर्शकोन्मुखी प्रयोग

रगमचीय प्रस्तुति मे दर्शक का बहुत महत्त्व है क्योकि दर्शक रगमचीय क्रियाओ का केवल दर्शक न होकर उसका बोधक है। दर्शक की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि—"वह जो खेल, तमाशा या ऐसा ही और काम या बात चाव से या ध्यानपूर्वक देखता हो वह दर्शक है। वह जो किसी काम, चीज या बात को किसी विशिष्ट उद्देश्य से बहुत ध्यानपूर्वक देखता रहता हो।" (रामचन्द्र वर्मा, मानक हिन्दी कोश) वास्तव मे नाटककार को कृति की रचना के पीछे विशेष रूप मे दर्शक का ध्यान रखना चाहिए तथा दर्शक की माग के अनुसार नाटक होना चाहिए। डा० लक्ष्मी-नारायण लाल के शब्दो मे—"स्वभावत ये दर्शक न यथार्थवादी नाटक चाहते है, न अभी प्रयोगात्मक रगमच। ये सब नाटक चाहते है—कैसा नाटक? ऐसा जो एक ओर इनके विषय उनके दर्शन को उसके भीतर से वाणी दे सके, उन्ही के मानसचित्र, उन्ही राग-रग मे जो उन्हे बाध सके। क्योकि व्यावहारिक स्तर पर आज नाटककार से पहले रगशाला मे दर्शक की समस्या है।" (आधुनिक हिन्दी नाटक और रगमच)। अपने विचारो को दर्शक तक पहुचाने के लिए नाटककार को चाहिए कि वह पहले दर्शको को अगीकार करे। घनिष्ठ रूप से आगे उनकी बुद्धि का सम्मान करे तथा उनकी सहभागिता का स्वागत करे।

प्रयोगशील दृष्टिकोण के प्रति अपूर्व निष्ठा का ही परिणाम है कि जगदीशचन्द्र माथुर अपने युग के दर्शक की सीमाओ और अपेक्षाओ से बखूबी परिचित थे। वे अच्छी तरह समझते थे कि उनके नाटक का आम दर्शक किस माहौल से जी रहा है, कला और मनोरजन के नाम से वह क्या पा रहा है, उसके अनुभव क्या हैं? वह यह जानते हैं कि दर्शक एक तरह के नाटको से ऊब जाता है। इस मनोविज्ञान को समझते हुए उन्होंने अपने सभी नाटको मे अलग-अलग कथानको का चुनाव किया यद्यपि उनकी कथावस्तु ऐतिहासिक और पौराणिक है। "कुवरसिंह की टेक"

नामक कठपुतली नाटक अथवा लघु नाटक जो कि शुद्ध देहाती रंगमंच के लिए लिखा गया है, उसकी प्रस्तुति में दर्शकों का ध्यान रखते हुए निर्देशक के स्वर में माथुर जी कहते हैं--"मंच दर्शकों के बीच में आगे की तरफ आ जाए तो अच्छा, ताकि तीन ओर से दर्शक देख सकें। यह भी देहाती रंगमंच की विशेषता है। असल में लोक रंगमंच हर तरह से दर्शकों और अभिनेताओं के बीच की दीवार को दूर करता है, उनमें घुल-मिल जाता है। इस बुनियादी सिद्धांत को याद रखिए।" "गगन सवारी" में भी उन्होंने दर्शकों तक अपनी बात सम्प्रेषित करने का ध्यान रखा है क्योंकि आरम्भ में ही दर्शकों को कठपुतली के तमाशों का काला पर्दा दिखाई देता है। जिससे उन्हें नाटक में होने वाली घटना का संकेत मिल जाता है। "कोणार्क" में उन्होंने विशेष रूप से दर्शकोन्मुखी प्रयोग किया है और कहते हैं—"कोणार्क" का "वृन्दवार्तिक" कथा की कड़ियां प्रस्तुत करता है। किन्तु साथ ही दर्शकों का प्रतीक भी है, न सिर्फ उन दर्शकों का जो रंगशाला में बैठे नाटक का अभिनय देखते हैं बल्कि उनका भी, जो रंगस्थली में होने वाले, नियति के आश्चर्यजनक खेलों का अवलोकन करते हैं, संशय और उत्सुकता जिन्हें रह-रहकर पीड़ित करते हैं, उल्लास और जिज्ञासा जिनके प्राण हैं और कर्मोदधि की उत्ताल तरंगों के बीच जो विश्वास तथा सत्य की चट्टानों को देख पाते हैं।"

"शारदीया" में दर्शकों को विशेष ध्यान रखते हुए कहते हैं—"दर्शकों से इतना ही कहूंगा कि गहनतम भावनाओं के उद्वेलन में भी उतने ही नाटकीय तत्त्व मिल सकते हैं जितने बाह्य परिस्थितियों में संघर्ष और घटनाचक्रों की गति में।" माथुर जी ने "दशरथनन्दन" में कई प्रयोग किए हैं जिनमें से एक दर्शकोन्मुखी प्रयोग भी है। उन्होंने दर्शकों का हर स्थिति में ध्यान रखा है और प्रस्तुत नाटक काव्यमयी भाषा में होने के कारण कहते हैं कि—"रंगमंच का दृश्य काव्य-प्रदर्शन प्रेक्षक की समस्त ग्रहणशील इन्द्रियों को एक साथ ही सजग कर देता है। स्नायविक मण्डल सचेत हो जाता है। वह प्रेक्षक ही नहीं रहता। जो हो रहा है उसमें उसे स्वयं हिस्सा लेने का सा आभास होता है।" माथुर जी निरन्तर दर्शकों को नाटक देखने को प्रेरित करते दिखाई देते हैं।

रंगप्रक्रिया नाट्य की भीतरी निर्मिति है तो रंगकर्म नाट्य की बाह्य निर्मिति है। "नाट्य प्रदर्शन में निदेशक और अभिनेता-अभिनेत्री की कृतियों के अलावा जो कुछ भी देखा जा सकता है वह रंगकर्म का ही योगदान है।" (वीरेन्द्र नारायण रंगकर्म)। पर्दा उठते ही अथवा प्रकाश आते ही जो कुछ मंच पर दिखाई देता है वह दृश्यबंध और प्रकाशव्यवस्था का योगदान है। पात्रों के संवाद के अतिरिक्त जो कुछ भी सुना जाता है वह ध्वनि प्रभाव है। अभिनेता और अभिनेत्रियों को पात्रों के रूप में बदलने के लिए जिन रंग रोगन का प्रयोग होता है, जिन पोशाकों का काम में लाया जाता है वह है रूप-सज्जा और वेशभूषा का योगदान। जगदीश

चन्द्र माथुर ने आज की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए अपने नाटको मे रगकर्म के सभी प्रमुख तत्वो को अविभाज्य अग माना है।

५ मच एव अभिकल्पन के प्रयोग

मचाभिकल्पन के लिए दो अन्य शब्द भी प्रमुख रूप से प्रचलित हैं—दृश्यबध, रग-मच। अग्रेजी मे 'स्टेज' और "थियेटर" रगमच के दो पर्याय हैं। सामान्य और प्रचलित परिभाषा के अनुसार रगमच उस चबूतरे को कहते है, जो अगल-बगल और ऊपर से ढका रहता है, जिसके पीछे विचित्र अथवा सादा पर्दा लटकता रहता है तथा जिस पर नाटक के पात्र अभिनय करते हैं। मचाभिकल्पन अपने आप मे एक व्यापकता समेटे हुए है क्योकि इसे हम रगस्थल अथवा प्रेक्षागृह भी कह सकते हैं। जगदीशचन्द्र माथुर ने आधुनिक प्रदर्शन के लिए रगमच को अनिवार्य तत्व माना है।

मचाभिकल्पन की यह अनिवार्यता है कि वह विशिष्ट आकारो और सकेतो द्वारा लेखक की कल्पना को साकार करने मे अभिनेता को मदद करे तथा वह अपना काम तीन रूपो मे कर सकता है—

१. घटना या ध्यान का निर्देश।
२. घटना की परिपुष्टि।
३ नाटक का दृश्यात्मक और श्रवणात्मक आवरण।

नाटककार को नाटक के अनुसार ही मचाभिकल्पन करना चाहिए क्योकि अच्छा डिजाइनर यह भी मानता है कि उसके दृश्यबध पर लोग अभिनय करेंगे और उस अभिनय को लोग, दर्शक देखेंगे। अत नाटककार सम्पूर्ण नाट्य-प्रदर्शन को एक समन्वित सृजनात्मक अभिव्यक्ति की सज्ञा का अधिकारी बना देता है। जगदीशचन्द्र माथुर की यह विशेषता रही है कि उन्होंने सभी प्रकार के नाटको की दृश्यात्मक और भावात्मक अभिव्यक्ति की है। उनकी कल्पना इतनी लचकीली है कि वह एक दृश्यबध को दूसरे पर नही थोपते, जिस तरह एक अच्छा लेखक अपने पात्र को नही दोहराता।

भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार रगमच तीन प्रकार के होते हैं यथा—विकृष्ट, चतुरस्र त्र्यस्र। इन्हे क्रम से ज्येष्ठ, मध्य और कनिष्ठ भी कह सकते हैं। भारतवर्ष मे प्राय तीन प्रकार के मच चले आ रहे हैं—चौखटाकार, चत्रिल और खुले रगमच। राजकुमार के अनुसार—"रंगमच-स्थल के विभाजन का दूसरा तरीका सारी दुनिया म प्रचलित है। इसके अनुसार रगमच छ भागो म विभाजित है—१. अग्रिम दक्षिण भाग, २. अग्रिम मध्य भाग, ३. अग्रिम वाम भाग, ४ दक्षिण पृष्ठ भाग, ५ मध्य पृष्ठ भाग, ६ वाम पृष्ठ भाग। इसकी व्यापक

उपयोगिता भली भाति प्रमाणित हो चुकी है।" (नाटक और रगमच)। इनका महत्त्व यह है कि इसमे डिजाइन के अनुरूप रगमच पर साज-सज्जा लगाने मे सुविधा होती है और ठीक-ठीक यह समझा जा सकता है कि डिजाइन मे दिखाई गई कौन-सी वस्तु रगमच के किस भाग पर होनी चाहिए, यह स्पष्ट होने पर नाटकीय अभिव्यजना मे उस वस्तु का महत्त्व भी छिपा नही रहता। सर्वदानन्द के अनुसार—"सफल मचबन्ध उसे ही कहा जा सकता है जो—१. नाटक के काल का आभास दर्शक को दे, २ जिस समय जो घटनाए या सवाद हो रहे हो, वह जहा से हो रहे उस स्थल विशेष का आभास दें, ३ नाटक के चरित्र की सामाजिक स्थिति की सूचना दें, ४ ऋतु से अवगत कराए, ५ दिन का कौन-सा समय है, इसका परिचय दें।" (रगमच)।

जगदीशचन्द्र माथुर ने मचाभिकल्पन के व्यापक शब्द की सीमाओ को अपने नाटकों मे समेटा है तथा उसकी अनिवार्यता को समझते हुए कहते हैं—"वह कौन-सा रगमच होगा और कैसी वह नाट्यशैली—जो हमारे समाज म उपयुक्त स्थान पा सके।" (कोणार्क)। जगदीशचन्द्र माथुर के नाटकों की दृश्य-सज्जा बहुत सरल और सामान्य है। वे दृश्य-सज्जा के सम्बन्ध मे पर्याप्त रग-सकेत देते हैं जो दृश्य-बध, नाट्यस्थिति, पात्रो के हाव-भाव, उनकी वच, वेशभूषा आदि के सम्बन्ध मे पर्याप्त परिचय देते हैं। "कुवरसिंह की टेक" उन्होने खुले रगमच के लिए लिखा है। वह कहते है—"यह नाटक अनेक पर्दे वाले शहरी रगमच के लिए नही लिखा गया है। न इसमे पर्दे बदलने की जरूरत है न सैटिंग तैयार करने की।" उन्होंने साथ मे रगमच के चित्रो द्वारा दृश्य-सज्जा स्पष्ट कर दी है जैसे — 'ऊपर वाला चित्र देखिए। यही है खुला रगमच, पीछे बास और चटाई और फूल का बना पर्दा —दोनो ओर कुछ आगे हटकर चटाई की दो ओटे है। य ओटें इस नाटक के बहुत काम की हैं। रगमच की सजावट के लिए गेरू और चूने के रगो का इस्तेमाल कीजिए और कल्पना के डिजाइन खीचिए।

"यह कोशिश न कीजिए कि महल या जगल या गगा का किनारा दिखाया जाए। वे दृश्य सूत्रधार की बातो मे ही खिच जात ह। मच दर्शको के बीच म आग की तरफ आ जाए तो अच्छा ताकि तीन ओर से दर्शक देख सकें—यह भी देहाती रगमच की विशेषता है।" (कुवरसिंह की टेक)। अत उन्होने इस नाटक मे मूलत देहाती रगमच की कल्पना की है तो 'गगन सवारी' म कठपुतली के रगमच की स्थापना की है 'जिसम खेल के शुरू म दर्शको को कठपुतली के तमाशे का काला पर्दा दिखाई देता है। मच के एक ओर एक वृक्ष का तना और उसके पास ही पत्थर का टुकडा दिखाई देता है। बाकी मच खाली है।" (गगन सवारी)।

"कोणार्क" म प्रत्येक अक मे—"एक कक्ष का भीतरी भाग मन्दिर की विशाल

चहारदीवारी के भीतरी मुख्य मन्दिर से लगभग पचास गज दक्षिण-पूर्व की ओर एक भोग मन्दिर है। यह कमरा उसी मे स्थित है और मन्दिर के निर्माण के दिनो मे महाशिल्पी विशु का निवास-स्थान है। सामने तीन द्वार है, जिनमे से बीच वाले को छोडकर बाकी दोनो खिडकी जान पडती है। खिडकी के बराबर स्तम्भ है। उधर कुछ आधी उत्कीर्ण मूर्तिया पडी हैं। कुछ पाषाण रखे है, जिन पर की गई खुदाई नजर पड रही है। कुछ छैनिया और अन्य औजार भी पडे है। बाई खिडकी के पास एक लम्बी चौकी रखी है जिसके सिरहाने की तरफ लकडी की ऊची पीठ है।" (कोणार्क)

अक दो मे (महाशिल्पी विशु का वही कक्ष। मध्याह्न काल। कक्ष पहले की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित है। वातायन और द्वार मे रण एव पताकाओ से सुशोभित मन्दिर की आभा उत्कल नरेश की उपस्थिति घोषित करती है।)

अक तीन मे (मन्दिर के गर्भगृह मे सटा हुआ अन्तराल। समय रात्रि का दूसरा प्रहर। गर्भगृह के कपाट ठीक बीच मे है और बन्द है, दीपक के मद प्रकाश मे बाई ओर स्तम्भ के निकट एक मूर्ति की ओर निर्निमेष देखता हुआ विशु दीखता है। त्रस्त और अधीर मुद्रा। एक मुट्ठी बधी है। कन्धे पर उत्तरीय।)

शारदीया की दृश्य-सज्जा शर्जेराव के मकान के एक कमरे, युद्ध के निकट सिना नदी के किनारे एक तम्बू और ग्वालियर के किले के एक तहखाने से सम्बद्ध है। यह दृश्य-सज्जा किसी भी प्रकार से कठिन नही है। "पहला राजा" मे तो इतनी भी स्थूल दृश्यता नही। उसमे बहुत सा कार्य नट और सूत्रधार के सवादो तथा प्रकाश और अधकार की योजना पर अवलम्बित है। जबकि 'दशरथनन्दन" रामलीला के मच पर अधिक उपयोगी है। मूल का पाठ भी वाचक करता है। वाचक गद्य कहता है और पात्र उसे दोहराता है। माइक्रोफोन आने पर इस प्रवृत्ति मे अन्तर आ गया है। वह कहते है—"वस्तुत रेडियो के सूत्रधार या वाचक से सदियो पहले असम के अधियानाट, ब्रज की रामलीला और रामनगर की रामलीला मे सूत्रधार यो बार बार सामने आकर कथा के सूत्र को सम्भालता रहा है। मैने उसी परम्परा को आगे बढाने की चेष्टा की है। झाकियो की कल्पना भी निराधार मेरा अन्वेषण नही है, केरल मे शडियाट्टम से उन प्रदर्शनो मे जो मन्दिरो के कक्षावलम्भ मे होते है। कुछ दृश्य असाधारण होने के कारण मुख्य दृश्य से अलग प्रदर्शित होते हैं मूल रूप मे पात्रो का एक स्थान से दूसरे स्थान पर उसी मच पर जाना, जैसे विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण की यात्रा या राम-लक्ष्मण का जनकपुरी मे घूमना यह भी परम्पराशील रगमच की एक सामान्य रूढि है।

अत हम कह सकते हैं कि जगदीशचन्द्र माथुर ने तरह-तरह के रगमच की कल्पना की है लेकिन सभी के सभी यथारस्थ ही हैं। उन्होंने प्राचीन रूढिग्रस्त पर-

पराओं को तोडा तो नही लेकिन अन्धानुकरण भी नही किया है। बल्कि इनके माध्यम से नई परम्पराओ को स्थापित करने का प्रयास किया है तथा मचाभि-कल्पन की अनिवार्य शर्तों को मानकर चलने का पूर्ण प्रयास किया है तथा इसमे वे सफल भी रहे है।

६ लोक-गीतों, लोक-नृत्यो तथा कलाओ के प्रयोग

जगदीशचन्द्र माथुर का बाल्यकाल गाव मे बीते होने के कारण तथा सरकारी कामकाजी जिन्दगी मे वे ग्रामीण जीवन के निकट सम्पर्क मे आए होने के कारण उनके *नाटको मे लोक जीवन तथा सस्कृति की अक्षय निधि का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ है।* "कुवर की टेक" मे उन्होने स्वीकार किया है कि लोक रगमच हर तरह से दर्शको और अभिनेताओ के बीच की दीवार को दूर करता है और उनमे घुलमिल जाता है तथा उन्होंने लोकगीत "बिरहा" का प्रयोग किया है—जोकि शाहाबाद म प्रचलित एक लोक गीत है—उसके बाद "पवारा" जो कि "जगदीशपुर" की पार्वरिया टोली के खदरीन मिया का है। "मेरे श्रेष्ठ रग एकाकी" की भूमिका मे कहते हैं—"उस दुविधा की छाप ही है जो मध्यवर्ग के शिक्षित समुदाय को ग्रामीण जीवन के विकास-सम्बन्धी आदेशो की ओर प्रेरित और कटु यथार्थ से भयभीत करती रही है।" इस दुविधा के बीच भी जगदीशचन्द्र माथुर के मन मे ग्रामीण अनगढ अनपढ तथा नैसर्गिक जीवन के प्रति अपार ममता दिखाई देती है। *लोक जीवन और कला के प्रति उनमे विषम आग्रह मिलता है।* उनके एकाकियो और नाटको मे लोक सगीत के साथ लोक जीवन को यथेष्ट महत्त्व मिला है। शारदीया म ऐसा ही प्रयोग मिलता है। साथ ही वह कहत हैं—"इस अखिल भारतीय नाटक मे वे सस्कृत नाटक और लोकनाट्य मे निहित प्रगतिशील तत्त्वो को समाहित रखने की अनिवार्यता पर बल देते हुए सगीत और नृत्य को भी उस का अनिवार्य अग मानते है।" (शारदीया)

"पहला राजा' की भूमिका मे कहते हैं—"कुछ सवाद वर्तमान बोलचाल की भाषा म है, *गीता पर लोक शैली की छाप है।* इसी से नाटक को *यथार्थवादी* रचना नही ठहराया जा सकता।" (पहला राजा)

उदाहरण-स्वरूप—समूह गीत

नीला था आसमान, नीला आसमान
नील सरोवर मे खिली अंजान
अनदेखी सोनजुही।
नशीली थी आख, रगो की गौरव
नाहक किसी ने दिया ढाक
अनदेखी सोनजुही।

मिली फिर भी टोह, टूटा न मोह,
मिट्टी की गन्ध। तो कैसा विछोह ?
धरती की गन्ध बसी मेरे मन मे,
अनदेखी सोनजुही।" (पहला राजा)

दशरथनन्दन तुलसी के रामचरितमानस पर आधारित नाटक है। "रामचरितमानस' पर लोक शैली की छाप दिखाई देती है। तथा माथुरजी ने भी इसी शैली को अपनाकर प्रयोग कर दिखाया है। वह स्वीकार करते है—"धर्म कहिए अध्यात्म कहिए, भगवत् भक्ति कहिए, तुलसी, साहित्य, तुलसी का शिल्प, उनकी कला, उनके बिना सारहीन होगी। इसलिए इस नाटक मे बिना हिचक उसकी घोषणा की गई है। माथुर साहब की एक विशेषता उनको अनुप्रमेय महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करती है और वह है आई० सी० एस० होने के बावजूद ग्रामीण वातावरण, लोक सस्कृति और लोकहित के प्रति मोह। यह एक ऐसा गुण है जो उस वर्ग के व्यक्तियो म खोजने मे भी नही मिलता था। किन्तु माथुर साहब म इसकी प्रचुरता थी। इसके प्रमाण है— सन् १९५५ म वैशाली महोत्सव का आयोजन और तत्पश्चात् रेडियो के माध्यम से लोक-सस्कृति मूलक लोकनृत्य, लोकगीत, तथा कथा कथाओ के प्रसारण का प्रवर्तन कराया। "बोलते क्षण' नामक निबन्ध सग्रह का 'अब आप ही चुनिए" शीर्षक इस दृष्टि से अवलोकनीय है। उनकी इच्छा थी कि भारत के विभिन्न प्रदेशो की लोककला को सदैव सुरक्षित रखा जाए और लोक कला तथा कलाकारो को अपने मूल स्थानो मे सम्मानित किया जाए। उन्हे लोक जीवन की अपेक्षा हमेशा अखरती रही है। अत इससे सिद्ध होता है कि माथुरजी लोक-जीवन और लोक सस्कृति के महान हितैषी थे।

७ प्रकाश-व्यवस्था के प्रयोग

रगमचीय प्रस्तुति का यह सबसे महत्त्वपूर्ण घटक है। नाटकीय कला के वास्तविक सौन्दर्यावर्धन तथा उद्दीप्ति को विकसित करने वाला यह महत्वपूर्ण तत्त्व सिद्ध हुआ है। क्योकि अभिनय कला तथा उनके माध्यम से गति तथा कार्य को पूर्णत व्यजित करने के लिए पर्याप्त तथा समुचित प्रकाश की आवश्यकता है। वीरेन्द्र नारायण के अनुसार—"रगमच पर प्रकाश-व्यवस्था का सिर्फ इतना ही काम नही कि नाट्य-प्रदर्शन जैसी समन्वित अभिव्यक्ति के विभिन्न अगो के योगदान को दिखाए बल्कि प्रकाश-व्यवस्था ही वह चीज है जो विभिन्न अगो के योगदान को समन्वित करती है।" (रगकर्म)। यह घटक सम्प्रेषणीयता का महत्त्वपूर्ण साधन माना जाता है। हालाकि गुप्त के अनुसार—' प्रकाश योजना आलोक और सज्जा का एक कृत्रिम साधन है।" (नटरग अक ६)। फिर भी प्रकाश व्यवस्था का प्रयोग आरम्भ से ही होता रहा है। यह बात और है कि उस समय प्रकाश-व्यवस्था को इतना

महत्त्व नहीं दिया जाता था और उपकरणों की सुविधा भी उपलब्ध नहीं थी। साथ ही आज प्रकाश-व्यवस्था का रूप परिवर्तित हो गया है। पर्दों को उठाने-गिराने की आवश्यकता अभिनेता परछाईयों के समान क्रमश तिरोहित हो सकते है। अग्रिम दृश्य वाले अभिनेताओं का मच पर आगमन भी स्वाभाविक तौर पर हो सकता है *और अन्धकार की योजना मे मच सज्जा भी की जा सकती है।* प्रस्तुत प्रकाश का प्रयोग नाटक के उठते गिरते व्यापार को रेखांकित करने, बल देने वातावरण की सृष्टि करने और छोटे-छोटे आतरिक तथ्य तथा अन्तिम चरण बिन्दुओं को निर्मित करने और दृष्टि केन्द्र म स्थिर रखने के लिए महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा।' (शिवराम माली, नाटक और रगमच) अत रगमचीय व्यापार मे प्रकाश व्यवस्था की महत्त्वपूर्ण भूमिका स्थापित करते हुए रघुवश कहते हैं—"नाटकीय कार्य तथा गति पर प्रकाश रगो के सौन्दर्यात्मक सामजस्य ग आज उसके प्रभाव को अत्यन्त कलात्मक ढग से सवदित किया जा सकता है और उसमे ऐन्द्रिक उद्दीप्ति उत्पन्न की जा सकती है।' (नाट्यकला) इस प्रकार हम कह सकते है कि प्रकाश का प्रयोग बहुत सूक्ष्म चयन की पद्धति स किया जाना चाहिए।

जगदीशचन्द्र माथुर ने अपने नाटको मे प्रकाश योजना का भी सुन्दर प्रयोग किया है। उन्होंने दृश्य नियोजन स प्रकाश का प्रयोग करके उसकी अर्थवत्ता को बढाया है। "गगन सवारी" मे नीली रोशनी के द्वारा दृश्य म बदलाव आता है जैसे—जिस तरफ से झुमन आया है उधर जाता है। रोशनी नीली हो जाती है। पिपहरी की बारीक आवाज। जहाँ झुमन लेटा है वही स झुमन ही की शक्ल की *दूसरी कठपुतली उठती है।"* अत यही से कथा का आरम्भ होता है। अन्त म फिर कथा का रुख प्रकाश सयोजन के द्वारा ही बदलता है। जैसे— करीब आती है और आती हुई वही लोरी गाती है जिसे सुनते-सुनते शुरू मे झुमन सो गया था। उसकी वह पुतली चली जाती है। रोशनी बदल जाती है। सपने की नीली रोशनी की जगह साधारण प्रकाश, फिर दूसरी पुतली आती है।' इससे न केवल रगमच का विस्तार होता है, वरन् दुगुणा काम भी एक साथ रगमच पर प्रस्तुत होता है। "कोणार्क" के उपक्रम म ही नाटककार की जिज्ञासा का पता चलता है— झीने अन्धकार मे कोणार्क के खण्डहर की हल्की झलक दीख पड़ती है। क्षण भर के लिए मौन और निविड अन्धकार। फिर अन्धकार को चीरती हुई प्रकाश की भेद-रेखा तीन आकृतियों को ज्योतित कर देती है, मच के एक सिरे पर अग्रभाग म खडे हुए सूत्रधार और दो वाचिकाएं।" दूसरे और तीसरे अक मे उपकथन भी इसी वातावरण की उपज है, किन्तु उपसहार म *अन्धकार के बीच भी प्रकाश* की किरणों को उभारकर नाटककार ने अपने नाटक के कथ्य को जोडने का प्रयत्न किया है। गहन अन्धकार कम हो जाता है और कोणार्क के खडहर की वही

झलक, जो उपक्रम मे देखी थी—सूत्रधार और वाचिकाए सामने आती हैं और प्रकाश की किरणें एक-एक करके उन पर पडती हैं। "शारदीया" मे रगमच के काव्य को कथ्य के अनुसार ही प्रकाश मे घटित होता न दिखाकर अन्धकार मे ही सब क्रियाओ का नियोजन करते हैं। प्रथम अक के प्रथम दृश्य मे नरसिंह कहता है—"गहरे अन्धकार मे मैंने मुस्कराती चादनी का अनुभव किया है। बायजाबाई।" क्रमश अधकार—बायजाबाई के नैना मे आसू भरे हैं।" नरसिंहराव अन्धेरे तहखाने म बदी है। द्वितीय अक के दृश्य दो मे इसका उद्घाटन इस प्रकार होता है—पाच छ महोने बाद ग्वालियर के किले के नीचे एक अन्धकारपूर्ण तहखाना जो कारागार की तरह इस्तेमाल होता था। एक तग खिडकी म स भयभीत से प्रकाश की नन्ही किरण।" नरसिंह के लिए बायजाबाई ही ज्योति है, वह कहता है—'चादनी !—शारदीया—वही तो असली चादनी है।—मेरी काल कोठरी म उसी की ज्योति बसेगी, शारदीया की ज्योति।" नाटककार न 'दीपक' के प्रकाश के द्वारा भी वातावरण मे विशेष परिवतन किया है—'दीपक उठाकर बाहर लगाता है। कोठरी का वातावरण बदल जाता है। गाढे अन्धकार के कोने म झरोख से चादनी की धवल मुस्कान आप ही जगमगा उठती है। नरसिंह कमर म से कपडा निकालकर चादनी की ओर बढाता है। अन्त म पूर्ण नाटक 'प्रखर प्रकाश जो फिर पर्दे की छाया म लुप्त हो जाता है।" पहला राजा म कोणाक की भाति ही नट-नटी और सूत्रधार के सवादो को रेखाकित करने तथा एक और दूसरे दृश्य के बीच सेतु बनाने के लिए प्रकाश और छाया का बडा सार्थक प्रयोग हुआ है। प्रकाश कभी मच के आगे हिस्से पर पडता है तो कभी पिछले हिस्से पर। प्रकाश और छाया के माध्यम से बाध पर काम करते मनुष्य की आकृतिया उभारी गई हैं— दूर टीले पर कुछ पुरुषो की पक्ति। आकृतिया 'सिलुए्ट' की भाति दीख पडती हैं। उन लोगो के कधो पर एक लम्बी रस्सी जिसका दूसरा छोर टीले के नीचे होने से अदृश्य है। इसी रस्सी द्वारा मानो कोई भारी पदार्थ खीचा जा रहा है। सबसे आगे वाला व्यक्ति पक्ति की ओर मुह करके हाथो स बढाव के लिए इशारा करता है और स्वर भी उठाता जाता है। आवाजें कुछ ऐसी हैं—हेईसा। खीचो भाई ! हेईसा ! नीचे झुककर ! हेईसा ! चलता चल, हेईसा ! थोडा और हेईसा !' 'दशरथनन्दन' मे भी वही प्रकाश को अनिवार्य अग मानते है। झाकी म देवी-देवताओ की आकृतिया स्पष्ट करने के लिए नीलाभ उजाले का प्रयोग करते हैं—'नीलाभ उजाला। उसम देवी देवताओ ब्रह्मा, शिव, सरस्वती, नारद, इन्द्र, गणेश इत्यादि के आकार धीरे धीरे स्पष्ट होते जाते हैं।' अन्त मे पुन नीलाभ प्रकाश म देवी-देवता लुप्त होते हैं। प्रथम अक के प्रथम दृश्य मे नीलाभ प्रकाश म ही वसिष्ठ, दशरथ तथा अग्निदेव का आकार स्पष्ट होता जाता है। और इसी प्रकाश म मन्द होने पर आकार भी ढूढना पड जाता है। द्वितीय

दृश्य मे ऐसा पता चला है कि उन्हे प्रकाश-सम्बन्धी प्रयोगो की तकनीक का पता है। इसीलिए कभी वह मच पर प्रकाश कम करने की तरफ निर्देश करते हैं तो कभी तेज—जैसे—"वसिष्ठ और अन्य विप्र खड़े हैं उनके ऊपर प्रकाश कम है। विश्वामित्र और शिष्य पर ही विशेष प्रकाश पड रहा है और उनके साथ-साथ चलता जाता है।" अब दो का आरम्भ प्रकाश पुज से होना है—"प्रारम्भ मे थोडी देर के लिए प्रकाशपुज तुलसीदास और उनकी मडली पर केन्द्रित रहता है और वे उसी दोहे की पुनरावृत्ति करते हैं जिसे उन्होंने अक एक के अन्त मे कहा था। "नाटककार ने प्रत्येक दृश्य और अक की समाप्ति मे क्रमश अन्धकार का प्रयोग किया है और आरम्भ मे प्रकाश पुज का, नीलाभ रोशनी का अधिक प्रयोग है। नाटक के अन्त मे भी —क्रमश अन्धकार चतुर्थ दृश्य मे समाप्त। प्रकाश केवल तुलसीदास और उनकी मडली पर केन्द्रित रह जाता है।"

इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि नाटकीय प्रदर्शन मे केवल प्रत्यक्ष करने की अपेक्षा प्रकाश मे आभासित करने की सम्भावना का अधिक महत्त्व माना जाता है। उनका प्रत्येक प्रकाश सम्बन्धी प्रयोग प्रकाश के गुणो के एक निश्चित सयोग को स्वत चालित ढग से व्यजित करता है।

८ सगीत एव ध्वनि का नया इस्तेमाल

सगीत एव ध्वनि नियोजन रगमच का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अग है। "जिस तरह अभिनेता की शारीरिक उपस्थिति के लिए दृश्यबोध की आवश्यकता होती है उसी प्रकार उसका उच्चरित पक्ति के लिए अथवा उसके मौन के लिए, क्रिया-कलाप के लिए, ध्वनि प्रभाव का उपयोग किया जाता है। दूसरे शब्दो मे यह भी कह सकते हैं कि दृश्यबध और ध्वनि प्रभाव एक ही काम करते हैं। सिर्फ उनके धरातल दो होते है। एक का लक्ष्य दर्शको की आँखें होती है, तो दूसरे का लक्ष्य दर्शको के कान।" (वीरेन्द्र नारायण . रगकर्म)

ध्वनि प्रभाव की अपनी अभिव्यक्ति होनी चाहिए। साथ ही नाटक को पक्तियो मे घुल मिल जाना चाहिए। तथा परिवर्तनशील होना चाहिए। समय और स्थान का निर्देश नाटक के घटनाक्रम का प्रदर्शन नाटक के क्रिया-कलाप की पृष्ठभूमि और भाव दशा का निर्माण ध्वनि प्रभाव के कारण कर सकते हैं। ध्वनि प्रभावो के सयोजन मे सम्प्रेषणीयता स्वत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेती है क्योकि नाटक की सफलता इस सम्प्रेषणीयता पर ही निर्भर करती है। इससे नाटक की सुन्दरता बढ जाती है जैसे सर्वदानन्द कहते हैं कि—"ध्वनि प्रभाव और प्रकाश व्यवस्था यदि अच्छे हो तो प्रदर्शन मे जान आ जाती है, अच्छे नाटक का सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है।" (सर्वदानन्द रगमच)

जगदीशचन्द्र माथुर के नाटको मे दूसरी तरफ सगीत नियोजन का भी पूरा

ध्यान रखा है। उन्होंने सगीत के द्वारा विभिन्न वाद्ययन्त्रो का परिचय भी दिया है। सगीत नाटक मे पक्ष की अनिवार्यता के साथ-साथ भाव प्रवणता की आवश्यकता को भी पूरा करता है। सगीत मानसिक अन्तर्द्वन्द्व, मन की विभिन्न गुत्थियो को खोलता चलता है और भावो के सुन्दर और सूक्ष्म चित्रण को जन्म देता है।

जगदीशचन्द्र माथुर ने एक ओर ध्वनि तथा दूसरी ओर सगीत नियोजन को बखूबी निभाया है। दोना ही तत्त्व नाटक की पक्तियो के साथ घुल-मिलकर सपूर्ण इकाई बन गए हैं। जैसे सगीत का उन्हे पूर्ण ज्ञान था। वाद्यसगीत और गान जिसका प्रभावशाली ढग से सफल प्रयोग माथुर जी ने किया है। उन्होने प्राय नाटकीय प्रभाव को बनाए रखने के लिए ही इनका प्रयाग किया है। जिससे नाट्य स्थिति के अनुरूप काव्यात्मक वातावरण और मनोमय जगत की सृष्टि हो सके। उनका सगीत कही-कही भावात्मक बन जाता है तो कही प्रतीकात्मक। "कुवरसिंह की टेक" मे सगीत के द्वारा ही सारी घटना आगे बढती है। उसम चित्र के द्वारा यह स्पष्ट करने की कोशिश भी की है और कहते है—"चित्र मे देखिए। बाईं ओर से आगे ढोलक और सारगी वाले बैठे हैं। वे बराबर वहा बैठे रहेंगे, चूकि अक्सर नाटक मे सगीत चलता है।" नाटक के आरम्भ म ही रगमच पर सूत्रधार और उसका साथी गाते हुए आते हैं और नाटक म होने वाली सारी घटनाओ के सकेत दे जाते हैं। जबकि 'गगन सवारी' म नाटककार न सगीत और ध्वनि का विशेष रूप से एक नवीन प्रयोग किया है। क्योकि पजाबी लडकी को दही बिलोने के साथ ताल मिलाते हुए गात दिखाया है तो वहा प्रत्येक प्रान्त की लडकी के कार्य के अनुसार उसे गाते हुए दिखाना भी उनके नाटक की विशेषता है। प्रत्येक प्रात की लडकी के गाते हुए जाने से बेकग्राउड भी बदल जाती है। यही इन का प्रमुख प्रयोग है वहा "कुवरसिंह की टेक" मे कुछ दृश्य रगमच पर न दिखाए जाकर नेपथ्य में होते सुनाए जात हैं तथा सूत्रधार और साथी उनकी ओर सकेत करके कुछ इस प्रकार के चित्र खीचत है, जैसे सजय न धृतराष्ट्र की अधी आखो के सम्मुख खीचे थे।

"कोणार्क" नाटक का आरम्भ ही सगीतात्मक शैली मे होता है—"कला की जीत ! अटल विश्वास जगाए, खण्डर साता है।" 'कोणार्क' के उपक्रम म माथुर *जी ने इस प्रकार सगीत की व्यवस्था की है—'सम्मिलित वाद्यों का स्वर।* उस सगीत की अन्तिम ध्वनिया ऐसी हैं जैस सागर की लहरो का अनवरत न थकने वाला, सृष्टि की व्यथमयी वेदना से परिपूर्ण रुदन। इसी प्रकार तृतीय अक के "उपकथन' मे घटना का सगीत के माध्यम से प्रतीकात्मक रूप है। 'वही विराट नेपथ्य सगीत, किन्तु पहले की अपेक्षा अधिक हलचलपूर्ण, मानो शिव का प्रलयकर

तांडव राग हो।" तृतीय अक के अन्त मे विशु की प्रतिशोध भावना सगीत के द्वारा इस प्रकार प्रखर हो गई है—"अन्धकार गाढा हो जाता है और सहसा एक विशिष्ट वाद्य सगीत उमड उठता है, जिसमे मृदग इत्यादि ताल वाद्य विशेष मुखर है।" उसके बाद सगीत क्रमश मद हो जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि उन्होने सगीत के माध्यम से सवादो मे, भावो मे प्रयोग करके दर्शको/पाठको के हृदय मे प्रवश करने की चेष्टा की है। गोविन्द चातक की धारणा है कि "शारदीया म वाद्य सगीत के उपयोग के लिए निर्देश नही हैं, यद्यपि अन्तिम दृश्य म उस के लिए पर्याप्त स्थान है।" जबकि यह धारणा उनकी गलत सिद्ध होती है क्योकि माथुर जी न द्वितीय अक तक दृश्य एक म वाद्ययन्त्र 'तबूरे' का प्रयोग अपने पात्र से करवाया है—"बायजाबाई एक चौकी पर बैठी गाना सुन रही है। गाने वाली एव मुसलमान युवती है जो तबूरा नीचे रख दती है।" अत इस प्रकार के प्रयोगो से माथुर जी की सगीत एव ध्वनि के प्रति विशेष जानकारी मिलती है। "पहला राजा" मे वाद्यसगीत एव ध्वनियो का सयोजन अधिक मुखर हुआ है। गोविन्द चातक कहते है, "इस नाटक म कई ऐसी मिथकीय नाट्य परिस्थितिया हैं जिन्हे नाटकीय विश्वसनीयता तथा अति प्राकृत तत्त्व की विलक्षणप्रधान करने के लिए भावो और नाट्य स्थितियो को रेखाकित करने वाला सगीत अनिवार्य हो जाता है।" (नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर) जब शकराचार्य सुनीता से वेन की देह का मथन करन की आज्ञा मागते है तो उसके साथ "एक विराट वाद्य सगीत जिसमे यज्ञ ध्वनि का सकेत है" उत्पन्न होता है और जब सत्यरूप मे देह मथन आरम्भ होता है तो उसके साथ 'पृष्ठभूमि मे तालवाद्यो का मदनाद होना शुरू होता है—डमरू की आवाज कुछ ऊची होती है—डमरुओ का निनाद" होता है। यह सगीत भावात्मक वातावरण के निर्माण के साथ प्रत्येक तत्त्व अर्चना और पृथु के प्रणय प्रसग को भी उभारता है तो पृथु अर्चना से अपने दो रूपो की चर्चा करता है—"मैं ही डमरू और मैं ही वसी।" दोनो आलिंगनबद्ध होते है। नेपथ्य मे "नगाडे और डमरू की ध्वनि के बीच बसी का अनुराग भरा स्वर।" अत इस प्रकार सगीत का सयोजन उनके नाटको का विशेष प्रयोग बनकर उभरा है। जबकि दशरथनन्दन मे उनका सगीत प्रयोग परिपक्वता की सीमा पर पहुचा हुआ दृष्टिगोचर होता है जैसे वह लिखते हैं—' देवी देवताओ की स्तुति वृन्दगान के रूप में। स्तुति की पहली दो पक्तिया पुरुष स्वर मे, उसके बाद की दो पक्तिया स्त्री स्वर मे—इसी क्रम से गाई जाती हैं। अन्तिम दो पक्तिया सारा देवीगण समूह मिलकर है। ध्यान रहे कि स्तुति का प्रत्येक शब्द स्पष्ट हो और वाद्य अत्यन्त मद।" मगर इसी प्रकार अक दो के दृश्य चार मे अनेक वाद्यो का सम्मिलित स्वर का प्रयोग इस प्रकार मिलता है—"जयमाल पडते ही अनेक स्वरो मे जय-जय ध्वनि। तरह-तरह के वाद्या के स्वर—कुसुमो जिलयो-विरदावलिया। अनेक सम्मिलित स्वर।

धीरे धीरे कम होते हुए गान। वाद्य स्वरो के बीच राजाओ की आपसी कर्कश ध्वनि।" इस प्रकार उन्होने सगीत का नया प्रयोग हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

जगदीशचन्द्र माथुर के नाटको मे ध्वनि-प्रभाव मुख्यत. रेडियो नाटक का उपादान है, इसका प्रयोग उन्होने पार्श्वध्वनि के रूप म किया है "जिससे मालूम होता है कि काम जारी है।" "शारदीया" म नेपथ्य मे आती "गोलाबारी और कारतूसो की आवाजें सुनाई देती।" जेलखाने का लोहे का दरवाजा खुलने-बद होने की ध्वनि करता है। 'पहला राजा" मे भी बाँध पर काम करते लोगो का आभास ध्वनि-प्रभाव के रूप मे देने का प्रयत्न दिखाई देता है नेपथ्य मे समूह स्वर, पहले अत्यन्त मन्द और दूर, क्रमश निकट और गम्भीर। लगता है अनेक मजदूर किसी भीषण प्रयास मे लगे है।" "दशरथनन्दन" मे 'समिधा" के कडकने की ध्वनि, खडाउओ की मद होती हुई ध्वनि, "नाट्यधर्मी युद्ध के पूरे प्रभाव के लिए उपयुक्त क्रम से मृदग या ढोल पर हलकी थाप दी जानी चाहिए।" सीता के कगणो की ध्वनि, ये ध्वनि प्रभाव निश्चयत कथावस्तु के महत्त्वपूर्ण अग के रूप म जुटाए गए है।

इस प्रकार हम कह सकते है कि जगदीशचन्द्र माथुर के पात्र वास्तविकता से अधिक प्रभावशाली होते है क्योकि वे स्वय काव्य बनकर काव्यमयी भाषा का प्रयोग करते हुए अपनी मनोभावनाओ की ग्रन्थियो को खोलते चलते है। उनके गीत समसामयिक जीवन का प्रतीकात्मक और बिबात्मक रूप हो जाते है। ध्वनि तथा सगीत सयोजन का अनूठा समावेश उनके नाटको की मुख्य विशेषता है।

६ वेश-विन्यास मे परम्परा और प्रतीको के प्रयोग

वेशभूषा पात्र का बाह्यावरण है। वेशभूषा के चुनाव या उसके रूपाकनो म चार बातो का ध्यान दिया जाता है। चरित्र, नाटक, प्रचार सामग्री। क्योकि वीरेन्द्र नारायण कहते हैं, कि—"वेशभूषा चाहे किसी भी नाटक के लिए निर्धारित की जाए, यह जरूरी है कि वह न सिर्फ पात्रानुकूल हो, बल्कि प्रदर्शन की दिशा और नाटक की आत्मा को भी उजागर करे।" (रगकर्म) इसका प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से दर्शको के ऊपर पडता है। वेशभूषा द्वारा व्यक्तित्व और चरित्र के निरूपण की सम्भावनाओ की सहज कल्पना हो सकती है। इसकी सतर्कता के लिए कुछ नियमो का पालन होना अनिवार्य है जैसे—

१. पात्र के स्वभाव से जानकारी हो
२ पात्र की उम्र का ध्यान
३ पात्र की सामाजिक व्यवस्था और व्यक्तिगत रुचि का निरूपण
४ स्थान और काल का निरूपण
५ पात्र की मनोदशा का वर्णन।

इस तरह व सामा य मकेतो के द्वारा बहुत सारे अन्य सवेत भी मिलते हैं। आभूषण भी वशभूषा के अग माने जाते हैं क्योंकि वशभूषा और आभूषण एक दूसरे के पूरक है पात्रो की पोशाको की ओर श्री माथुर ने नाटय जगत का ध्यान आकृष्ट किया था। वशभूषा सम्ब धी मनमानी आलोचना की थी। आपके अनुसार दक्ष निर्देशक को यदि प्राचीन युग का प्रदशन करना है तो उस उस काल क चित्र तथा मूर्तियो का अध्ययन करके यथा सम्भव वैसी ही वेशभूषा उपस्थित करनी चाहिए। यदि आधुनिक समाज का दृश्य है तो जिस वग का कोई पात्र है उसी के अनुरूप वस्त्र भी रखने चाहिए। अत इन सब बातो का ध्यान उ होने नाटक म रखा है। वह युग की परम्परा को तथा उसी युग के प्रतीको का लेकर आगे बढ है। कुवरसिंह की टक मे कहते ह— पुस्तक मे दिए गए चित्रो म वशभूषा का कुछ अन्दाजा लगता है। लकिन ये चित्र कठपुतलियो पर आधारित हैं इसीलिए इनमे कुछ अतिरजना है। आप तो सीधी-सादी उन्नीसवी सदी की वशभूषा रख सकते है। सावरकर के भारतीय विद्रोह के इतिहास म अनक ऐसे चित्र हैं जिन से वशभूषा निर्धारित करने म मदद मिलगी। कुवरसिंह एक एतिहासिक पात्र है वश वि यास और रूप का वणन इस प्रकार किया है— ७५ वप की आयु पर कमर सीधी लम्बा इकहरा बदन गोरा रग नुकीली नाक तेजस्वी नेत्र गलमुच्छे घने और मूछ हल्की। अचकन साफा तलवार। नाटक म भोजपुरी के गीतो की वश की छाप है— यह है भोजपुरिया सवरिया। घरदार जामा पगडी दुपट्टा और पाजामा पहने हाथ मे तलवार लिए पवरिया का आना। गगन सवारी का मुख्य पात्र झुमन जुलाहा है और नौकर जमाल है उसकी वेशभूषा भी उसी के अनुकूल है—इसम माथुर जी ने अलग-अलग प्रा तो की वशभूषा की चर्चा इस प्रकार की है—

१ अग्रजी वशभूषा

बारीक नाइलान की साडी और परिस कट का ब्लाउज। नौजवान छैला मोम की मूछ और हालीवुड का सूट पहन—नइ नवली पहने बठा है विरविस—नही नही पतलून। नही नही अमरीकन जीन।

२ पजाबी युवती

स नवार दुपट्टा आढ दही बिला रही है। इसी प्रकार कश्मीरी लडकी अपने पल्लू का कसी र दिखाती है। जा कि उसकी वश वि यास का प्रतीक है कोणाक के पात्रो के लिए वेश वि यास क लिए माथुर जी परिशिष्ट एक म कहते हैं— वेशभूषा के लिए देखिए अजन्ता के चित्र और कोणाक और भुवनेश्वर की कुछ मूर्तियो के चित्र जो पुरातत्त्व विभाग नइ दिल्ली से मिल मकत हैं ऐसी दो मूर्तियो क रखाचित्र पुस्तक म अयन दिए गए हैं। अक्सर लोग राजसी वशभूषा की

तडक भडक दिखाने के लिए मुगल युग के कपडे प्राचीन नाटकों के पात्रों को भी पहना देते हैं। ऐसी बातें नाटकीय प्रभाव को बढ़ाने के बजाय उसे क्षीण कर देती हैं। शिल्पियों की वेशभूषा तो सादी होनी चाहिए।" लेकिन दूसरी तरफ माथुर जी दशरथनन्दन "राम" के वेश विन्यास की चर्चा करते हैं—"सामने खडे हैं भक्त वत्सल भगवान—कटि मे निषंग, बाए हाथ मे धनुषबाण, नीले कमल-सा शरीर, शरदमयंक सा मुख, विधुवर निकर—विनिन्दक मुस्कान, ललित चितवन, ललाट पर तिलक, चमकता पटन, कुण्डल मकर मुकुट से सुशोभित सिर, उर पर श्रीवत्स, गले मे रुचिर वनमाला और आभूषण केहरी के से कन्धो पर यज्ञोपवीत साक्षात भगवान श्री रामचन्द्र।"

अत उनके नाटको को पढ़ने के बाद ऐसा लगता है कि उन्हें वेश-विन्यास मे भी परम्परा और प्रतीको के चिह्न खोजने के प्रति विशेष लगाव था। वास्तव मे ऐतिहासिक और पौराणिक पात्रों के अनुरूप वेशभूषा के बिना रंगमच पर खेला ही नहीं जा सकता है। अत इस दृष्टिकोण से अगर हम देखें तो कह सकते हैं कि उन्होंने अभिनय के लिए इस तत्त्व को महत्त्वपूर्ण माना है।

१० सम्प्रेषण के नए माध्यमो के प्रयोग

माथुर जी की नाट्य रचनाओ मे बहुत कुछ ऐसा है जो अलग से उनकी पहचान करा देता है। जहा उन्होंने प्रकाश, सगीत, वेश-विन्यास, लोकशैली आदि का ध्यान रखा है, वहा पर सम्प्रेषण के लिए कई माध्यमो का प्रयोग भी उन्होंने किया है। जैसे विराम पौज या मौन सकेतमय अभिनय, अन्य भाषाओ के शब्दो का अर्थ सहित वर्णित करना आदि उनके नए माध्यम हैं। मौन सकेतमय अभिनय या विराम भी नाटक मे मुख्य होता है। किसी स्थिति की प्रतिक्रिया, जिज्ञासा तथा सार्थकता को प्रकट करने मे विराम का नाटक मे बडा महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। 'कोणार्क" म स्थिति परिवर्तन के लिए मौन का प्रयोग सूत्रधार और वाचिकाओ के बीच एक सेतु सा काम करता है। कहीं "पूर्ण मान' की स्थिति का दर्शक को मच पर अपने को केन्द्रित करने के हेतु प्रयोग किया है तो तृतीय अक मे जब राजा चालुक्य मन्दिर पर आक्रमण करता है, कक्र कोलाहल बढ रहा है। पदचाप निकट आ रहे है। कुछ समय तक मच खाली रहता है। यह भी अर्थ की छवियां सजोता है। 'पहला राजा" मे इसका एक विशेष रूप मे प्रयोग हुआ है। नाटक के अन्त म पृथु जीवन से नाराज होकर पिछले जीवन पर मुडकर देखना चाहता है। इसलिए मेघ पट से अर्चना, प्रभु के अतिरिक्त सभी पात्र चले जाते हैं। मौन छा जाता है। अर्चना, पृथु के कन्धे पर तूणीर और धनुष लटकाती है और पृथु उसकी तरफ पीठ करके कहता है "अर्चना थोडी देर के लिए मुझे अकेला छोड दोगी।" और उसके बाद मच पर मौन छा जाता है। इसी प्रकार "दशरथनदन'

के अक-२ मे दश्य-दृश्य मे रगमच पर सभी क्रिया "मौन" और सकेतमय भाषा मे हुई है। नाटककार स्वीकार भी करता है– "अन्त मे दीर्घा से रगस्थली पर लौटते समय बच्चे उन्हे रगस्थली के बीच धनुप यज्ञशाला के विभिन्न अग दिखाने का अभिनय करते हैं और राम भी लक्ष्मण को बताते हैं। यह सब मौन सकेतमय अभिनय है—अन्य नगरवासियो के बोलन का मात्र आभास मा होता है।" दूसरी तरफ उन्होने अपने नाटको मे 'मुखौटे' के प्रयोग द्वारा अपनी बात को सुप्रेषित करने का प्रयत्न किया है। क्योकि मुखौटे भाव के स्तर पर प्रभावित करते है। कवष और पृथु का यह पारस्परिक वार्तालाप "इन मुखौटो को तुम भी सच मान बैठे हो।" इनके आरोपित व्यक्तित्वो को ध्वनित करता है।

अन्य प्रातो की भाषा के शब्दो को उन्होने पाद-टिप्पणी देकर स्पष्ट किया है जैसे कोणार्क मे—

१. "अम्ल" त्रिपटधर, कलश और छत्र तत्कालीन उडीसा मदिरो की देउलि यानी मुख्य खड किए जिसे विमान भी कहते हैं, के सबसे ऊपरी अश के विभिन्न अगो के नाम भी हैं।

२ "सगीतात्मक" शब्द साहित्य म ऐसे प्रदर्शन के लिए प्रयुक्त हुआ है। जिसमे सगीत, नृत्य और अभिनय का सयोग हो जैसे आधुनिक आपेरा—वाणभट्ट की "कादम्बरी" मे चतुर्भाणी और विद्यापति के "गोरक्ष-विजय नाटक मे सगीतज्ञो का उल्लेख मिलता है।

निष्कर्पत कहा जा सकता है कि नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर की रगमचीय प्रस्तुति चेतना अपने युग की सीमाओ को तोडती है। उसे यह तो मान्य है कि नाटक सदैव रगधर्मी होता है और यह भी कि रगधर्मिता का निर्वाह रगकर्म के वाछित ज्ञान के विना नही किया जा सकता। मगर उन्हें यह गवारा नही कि यह सब प्रयोग ग्रह के वशीभूत होकर कृति के मूल कथ्य अथवा प्रस्तुति मे दर्शक की कीमत पर किया जाए। अत उनकी रगमचीय प्रस्तुति नवीन प्रयोगो की अनुवर्तिनी रही है। इस दृष्टि से उन पर किन्ही विशेष अर्थो मे आधुनिक न होने का आरोप भी लगाया जा सकता है, किन्तु उसी समय जब हम उनके युग के हिन्दी रगमच की सीमाओ और निश्चित दर्शनीय परम्परा के अभाव को नही समझते। सच तो यह है कि जगदीशचन्द्र माथुर के समय मे हिन्दी रगमच पर कोई विशेष प्रयोग नहीं हो रहे थे और दूसरी ओर रगमच अपनी स्वतन्त्र साहित्यिक पहचान भी नही बना पा रहा था। हमे यह भली-भाति समझना होगा कि हिन्दी का आधुनिक रगमच पिछले दो दशको मे ही अधिक उभरा है और माथुर जी ने अपनी रगमचीय प्रस्तुति मे प्रयोगो के माध्यम से उसके लिए एक निश्चित पृष्ठ-भूमि तैयार की है। ●●

३ परम्पराशील नाट्य।
४ बहुजन सम्प्रेषण के माध्यम।

प्राचीन भाषा नाटक संग्रह नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का सहयोगी सम्पादन करके उन्होंने एक पूरी परम्परा को विस्मृति का शिकार होने से तो बचा लिया है तथा नाटक साहित्य के धारावाहिक इतिहास को नए दृष्टिकोण मे देखने की कोशिश भी की है। इससे भारतीय लोकनाट्य परम्परा के अनुसधान और हिन्दी नाट्य-साहित्य के विकास के प्रामाणिक अध्ययन के लिए एक नई दिशा का उद्घाटन होता है। प्राचीन भाषा नाटको मे भारतीय नाट्य परम्परा के अनेक बलशाली रूढियो को नकारा है। इनमे एक नवीनता मिलती है जिसका परवर्ती सस्कृत नाटको मे अभाव था। उनका प्रमुख उद्देश्य—लोकचेतना को भक्तिमार्ग की ओर मोडने का प्रयास भी है। भाषा की दृष्टि से ये नाटक मध्यकालीन आर्य भाषा के पूर्वरूप के विकास की दिशा की सूचना देते हैं। भारत प्राचीन भाषा नाटक संग्रह उत्तरी भारत की नाट्य परम्परा की एक सूत्रता को खोज निकालने वाला एक महत्त्व-पूर्ण और अमूल्य ग्रंथ है।

इसी प्रकार अंग्रेजी पुस्तक "ड्रामा इन रूरल इण्डिया" मे भी उन्होंने प्राचीन पारम्परिक नाट्यविधानो के साथ रगमचीय इतिहास और उसकी कलात्मक रीतियो की प्रवृत्तियो को पूर्ण रूप दिया है और साथ ही यह हमारे सास्कृतिक केन्द्रो से नाट्य सगीत और नृत्य की शैलियो और प्रवृत्तियो, दूसरे प्रदेशो से सचरण करती थी तथा पारस्परिक आदान प्रदान से एक दूसरे को प्रभावित और समृद्ध करती थी।

"परम्पराशील नाट्य" नामक पुस्तक मे श्री माथुर ने लोक साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण अग को अभिजात्य प्रदान कर दिया है। उन्होंने लोकनाट्य एव परपराशील नाट्य मे पार्थक्य माना है क्योकि वह काफी अर्से से खास परम्परा के अधीन रहकर लोक साहित्य की प्रवाहमान धारा से अलग हो चुके हैं। तथा उनकी कुछ अपनी रूढिया या प्रणालिया स्थिर हो चुकी हैं। उनका मत है कि परम्पराशील नाट्य मे जो परिमार्जन एव अलकृति विद्यमान है वह इसे सामान्य लोक-साहित्य से पृथक कर देती है। यह निश्चित है कि लक्षण ग्रथो से प्रभावित रचना एक प्रकार की ही होती है और लक्षण ग्रन्थो से अछूती रचना दूसरे प्रकार की। लक्षण ग्रन्थो मे प्रभावित रचना मे भी एक दूसरे से मात्रा मे भिन्नता होती है। इस दृष्टि से यह पुस्तक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

भक्तियुगीन भाषा नाटको के रचयिताओ ने रगशाला और नाट्य को जन-साधारण के बीच भागवत धर्म के सदेश का माध्यम बनाया। ऐसा करने के लिए माथुरजी ने एक विशेष सप्रेषण पद्धति का इस्तेमाल किया। अत उन्होंने "बहुजन

सम्प्रेषण के माध्यम" नामक पुस्तक की रचना कर डाली। इस सम्प्रेषण पद्धति का आधार रग प्रक्रिया का चरमोत्कर्ष था। जिसमे भाव विह्वलता और पुनरुक्ति इत्यादि क फलस्वरूप अह के अस्थायी लोप की मनोदशा मे आध्यात्मिक सदेश प्रेक्षक आसानी से ग्रहण कर सकता था। अत इस सम्प्रेषण पद्धति का प्रभाव अन्य विधाओ पर भी पडा।

इसके अतिरिक्त माथुरजी के पत्रिकाओ मे बिखरे हुए जो लेख मेरी दृष्टि से गुजरे हैं उनकी सूची इस प्रकार है—

१ हिन्दी रगमच और नाट्यकला का विकास
(आलोचना, सितम्बर, १६५२)
२ वर्तमान रगमच प्रवृत्तिया और सगठन
(कल्पना, अक्तूबर, १६५२)
हिन्दी नाट्य रचना की प्रगति का अक वर्ण
(राष्ट्रभारती, १६५२)
४ लोक रगमच का नवनिर्माण
(नई धारा, १६५३)
५ दि फारगोटन थियेटर ऑफ मिथिला
(दि विहार थियेटर, न० २ सितम्बर १६५३)
६ नया रगमच सगठन और शैलियां
(आकाशवाणी प्रसारिका जुलाई : सितम्बर १६५७)
७ नई पीढ़ी के लिए सगीत
(सगीत नाटक, सगीत नाटक एकादमी, नई दिल्ली जून १६६०)
८ हिन्दी नाटक अखिल भारतीय माध्यम के रूप मे
(सस्कृति पत्रिका)
६ क्या वीररस और देशभक्तिपूर्ण नाट्य के लिए आज के युग मे स्थान है?
(साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ३० जनवरी १६७२)
१० हिन्दी नाटक अखिल भारतीय माध्यम के रूप मे
(शारदीया, परिशिष्ट, १६७५)
११ भारतीय लोकमच का भविष्य
(साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २४ अक्तुबर, १६७६)
१२ निर्देशक और अभिनेताओ के लिए सकेत
(परिशिष्ट कोणार्क, १६७६)

१३. वैशाली लीला
(वैशाली, सघ, वैशाली, बिहार १९७६)

१४ उदय की बेला मे हिन्दी रगमच और नाटक
(परिशिष्ट कोणार्क १९७१)

१५ हिन्दी रगमच की प्रवृत्तिया और सभावनाए
(अप्रकाशित निवन्ध)

प्रत्यक्ष रूप से माथुर के नाट्य साहित्य और पृष्ठभूमि के रूप मे उनके नाट्य-चिन्तनात्मक लेखन के आधार पर जो अध्ययन हमने पिछले सात अध्यायो मे समाप्त किया है उसके आलोक में उनके नाटको के भीतर अनुस्यूत प्रयोग-दृष्टि को निष्कर्षतया निम्नलिखित बिन्दुओ मे लपेटा जा सकता है—

१ जगदीशचन्द्र माथुर निश्चित रूप से एक प्रयोगधर्मी नाटककार थे जिनके प्रयोगो का फलक बहुत विस्तृत है। इन प्रयोगो के माध्यम से वह एक ओर अपने युग के मनुष्य कलाकार और समाज को झकझोडना चाहते है तथा दूसरी ओर नाटक तथा रगमच को अटूट रिश्ते मे बाधकर हिन्दी के स्वतन्त्र रग-मच की स्थापना को स्वप्न से साकारता मे परिवर्तित करना चाहते हैं। अत जिस बुनियाद पर आज का साठोत्तरी हिन्दी नाटक खडा है उसकी मजबूती मे माथुर के निर्माणात्मक लेखन क्रम को अभी विस्मृत नही किया जा सकता।

२ माथुर के नाट्य-प्रयोग नितान्त मौलिक हैं। मौलिकता से तात्पर्य यह नही है कि उन्होने किसी शून्य मे नाट्य सृष्टि की है, इसका अर्थ तो यह है कि उन्होने परम्परा और प्रयोग म स्वस्थ सतुलन स्थापित किया है। वह परम्परा का आधुनिकीकरण इस तरह करते है कि नाट्यशास्त्रीय एव लोक-नाट्यात्मक धरोहर के प्रति कृतज्ञता भी बनी रहती है और विश्वनाटक के क्षेत्र म हो रही हलचल से हमारा अपरिचय भी नही रहता। केवल प्रयोग के लिए इन्होने कोई प्रयोग नहीं किया है। यही कारण है कि उनकी भारतीय पहचान निरन्तर बनी रहती है। इस दृष्टि से वही आधुनिक नाटक के प्रवर्त्तक भारतेन्दु हरिश्चद्र की परम्परा को बीसवी शताब्दी के सातवे दशक तथा इस गम्भीरता से विकसित करते है कि प्रयोग के धरातल पर लक्ष्मीनारायण मिश्र और उपेन्द्रनाथ अश्क जैसे समकालीन नाटककारो से वह आगे निकल ही जाते हैं। मोहन राकेशीय लेखन और प्रसादकालीन प्रवृत्तियो के कगारो पर पुल भी बनाते है।

३. माथुर कवि नहीं थे, लेकिन उनके भीतर का नाट्यप्रयोग अद्वितीय काव्यानुभूति से सम्पन्न है। प्रसाद के उपरान्त हिन्दी के यह अकेले नाटककार हैं जिन्होंने लगभग तीन दशकों तक गद्य और पद्य के बनावटी अन्तर को समाप्त करने का प्रयास किया है। यह प्रयास ब्रेख्तियन प्रतिबद्धता के तुल्य तो नहीं है क्योंकि यह मूलतः अभिजातवर्गीय है और रोमांसवादी स्वच्छन्दता के अधिक निकट है, मगर कभी-कभी हिन्दी में केवल ब्रेख्त की याद को ताजा करता है। ब्रेख्त की काव्यानुभूति जहां विचारों को सघन बनाती है वहां माथुर न काव्यात्मकता का इस्तेमाल अनुभूति प्रवणता अर्थात् पाठक-दर्शक को कथ्य के प्रवाह में बहाकर ले जाने के उद्देश्य से अधिक किया है। यह शायद उनकी उतनी नहीं जितनी कि उस भारतीय आस्वाद की सीमा है जिसे ध्यान में रखकर वह नाट्यरचना करते थे।

४ जगदीशचन्द्र माथुर की प्रयोग दृष्टि अपने समय की अप्रतिरोध्य अभि-प्रेरणाओं की परिणति है।

५ नाटककार माथुर के नाट्यप्रयोगों मे विकास की उत्तरोत्तर सफलता सार्थकता परिलक्षित होती है। उनका प्रत्येक नाटक पहले के नाटक से अधिक प्रयोगशील है। स्तर भी ऐसा प्रतीत होता है कि "पहला राजा" मे वह प्रयोग की चरमसीमा पर पहुंच गए थे। अन्तिम नाटक "दशरथनन्दन" और अछूते प्रकाशित नाटक मे उनका प्रयोक्ता साहित्यकार राम-भक्ति अथवा अध्यात्म के कुछ ऐसा स्वर मुखरित करने लगता है कि सम्प्रेषण मे रुकावट आने लगती है।

६ नाट्य विषय के स्तर पर माथुर ने अनेकविध प्रयोग किए है। हमारा विचार है कि "पहला राजा" के उपरान्त उन्होंने अपने नाटकों मे समकालीन बोध को सामाजिक कथानक मे बांधा होता और ऐतिहासिक पौराणिक ढांचे को छोड़ कर सश्लिष्ट सामाजिक स्थितियो के नए नाटयबिम्बों मे चित्रित किया होता तो परवर्तियों के लिए वह अधिक आकर्षण का विषय होते।

७ कथ्य की अपेक्षा नाट्य शैल्पिक स्तर पर माथुर के प्रयोगों का महत्व कहीं अधिक है। हिन्दी के नाट्यशिल्प को उन्होंने नई विश्वसनीय दिशा दी है।

८ नाट्यप्रस्तुति के प्रयोगों म नाटककार माथुर सर्वाधिक समृद्ध, सफल एव अनुकरणीय है। उनका प्रत्येक नाटक रगचेतना का नया आयाम खोलता है और नाटककार, नाट्य-प्रस्तोता, अभिनेता, रगकर्मी तथा दर्शक के सामूहिक व्यापार पर बल देता है।

१३. वैशाली लीला
(वैशाली, सघ, वैशाली, बिहार १९७६)

१४ उदय की वेला मे हिन्दी रगमच और नाटक
(परिशिष्ट कोणार्क १९७९)

१५ हिन्दी रगमच की प्रवृत्तिया और सभावनाए
(अप्रकाशित निबन्ध)

प्रत्यक्ष रूप से माथुर के नाट्य साहित्य और पृष्ठभूमि के रूप मे उनके नाट्य-चिन्तनात्मक लेखन के आधार पर जो अध्ययन हमने पिछले सात अध्यायो मे समाप्त किया है उसके आलोक मे उनके नाटको के भीतर अनुस्यूत प्रयोग-दृष्टि को निष्कर्षतया निम्नलिखित बिन्दुओ मे लपेटा जा सकता है—

१ जगदीशचन्द्र माथुर निश्चित रूप से एक प्रयोगधर्मी नाटककार थे जिनके प्रयोगो का फलक बहुत विस्तृत है। इन प्रयोगो के माध्यम से वह एक ओर अपने युग के मनुष्य कलाकार और समाज को झकझोडना चाहते हैं तथा दूसरी ओर नाटक तथा रगमच को अटूट रिश्ते मे बाधकर हिन्दी के स्वतन्त्र रग-मच की स्थापना को स्वप्न से साकारता म परिवर्तित करना चाहते हैं। अत जिस बुनियाद पर आज का साठोत्तरी हिन्दी नाटक खडा है उसकी मजबूती मे माथुर के निर्माणात्मक लेखन श्रम को अभी विस्मृत नही किया जा सकता।

२ माथुर के नाट्य प्रयोग नितान्त मौलिक है। मौलिकता से तात्पर्य यह नही है कि उन्होने किसी शून्य म नाट्य सृष्टि की है, इसका अर्थ तो यह है कि उन्होंने परम्परा और प्रयोग मे सरस सतुलन स्थापित किया है। वह परम्परा का आधुनिकीकरण इस तरह करते है कि नाट्यशास्त्रीय एव लोक-नाट्यात्मक धरोहर के प्रति कृतज्ञता भी बनी रहती है और विश्वनाटक के क्षेत्र म हो रही हलचल से हमारा अपरिचय भी नहीं रहता। केवल प्रयोग के लिए इन्होंने कोई प्रयोग नही किया है। यही कारण है कि उनकी भारतीय पहचान निरन्तर बनी रही है। इस दृष्टि से वही आधुनिक नाटक के प्रवर्त्तक भारतेन्दु हरिश्चद्र की परम्परा को बीसवी शताब्दी के सातवें दशक तथा इस गम्भीरता मे विकसित करते है कि प्रयोग के धरातल पर लक्ष्मीनारायण मिश्र और उपेन्द्रनाथ अश्क जैसे समर्थ नाटककारो से तो आगे निकल ही जाते हैं। मोहन राकेशीय लेखन और प्रसादकालीन प्रवृत्तिया के किनारो पर पुल भी बनाते है।

३. माथुर कवि नही थे, लेकिन उनके भीतर का नाट्यप्रयोग अद्वितीय काव्यानुभूति से सम्पन्न है। प्रसाद के उपरात हिन्दी के वह अकेले नाटककार हैं जिन्होंने लगभग तीन दशकों तक गद्य और पद्य के बनावटी अन्तर को समाप्त करने का प्रयास किया है। यह प्रयास ब्रेख्तियन प्रतिबद्धता के तुल्य तो नही है क्योंकि यह मूलत: अभिजातवर्गीय है और रोमासवादी स्वच्छन्दता के अधिक निकट है, मगर कभी-कभी हिन्दी मे केवल ब्रेख्त की याद को ताजा करता है। ब्रेख्त की काव्यानुभूति जहा विचारो को सघन बनाती है वहा माथुर न काव्यात्मकता का इस्तेमाल अनुभूति प्रवणता अर्थात् पाठक-दर्शक को कथ्य के प्रवाह म बहाकर ले जाने के उद्देश्य से अधिक किया है। यह शायद उनकी उतनी नहीं जितनी कि उस भारतीय आशसक की सीमा है जिसे ध्यान मे रखकर वह नाट्यरचना करते थे।

४ जगदीशचन्द्र माथुर की प्रयोग दृष्टि अपने समय की अप्रतिरोध्य अभिप्रेरणाओ की परिणति है।

५ नाटककार माथुर के नाट्प्रयोगो मे विकास की उत्तरोत्तर सफलता सार्थकता परिलक्षित होती है। उनका प्रत्येक नाटक पहले के नाटक से अधिक प्रयोगशील है। स्तर भी ऐसा प्रतीत होता है कि "पहला राजा" मे वह प्रयोग की चरमसीमा पर पहुच गए थे। अन्तिम नाटक 'दशरथनन्दन" और अछपे प्रकाशित नाटक मे उनका प्रयोक्ता साहित्यकार राम-भक्ति अथवा अध्यात्म के कुछ ऐसा स्वर मुखरित करने लगता है कि सम्प्रेषण म रुकावट आने लगती है।

६ नाट्य विषय के स्तर पर माथुर ने अनेकविध प्रयोग किए है। हमारा विचार है कि "पहला राजा" के उपरान्त उन्होने अपने नाटको मे समकालीन वोध को सामाजिक यथार्थ मे बाधा होता और ऐतिहासिक पौराणिक ढाचे को छोड कर सश्लिष्ट सामाजिक स्थितियो को नए नाट्यबिम्बो मे चित्रित किया होता तो परवर्तिया के लिए वह अधिक आकर्षण का विषय होते।

७ कथ्य की अपेक्षा नाट्य शैल्पिक स्तर पर माथुर के प्रयोगो का महत्त्व कही अधिक है। हिन्दी के नाट्यशिल्प को उन्होने नई विश्वसनीय दिशा दी है।

८ नाट्यप्रस्तुति के प्रयोगो मे नाटककार माथुर सर्वाधिक समृद्ध, सफल एव अनुवर्णीय है। उनका प्रत्येक नाटक रगचेतना का नया आयाम खोजता है और नाटककार, नाट्य-प्रस्तोता, अभिनेता, रगकर्मी तथा दर्शक के सामूहिक व्यापार पर बल देता है।

निष्कर्षत कहा जा सकता है कि यदि जगदीशचन्द्र माथुर के नाटको को उनके युग के परिप्रेक्ष्य मे मूल्याकित करें तो ऊपर चर्चित प्रयोग दृष्टि नाटककार के विविध प्रयोग बिन्दुओ की प्रतीति करवाती है। वास्तव मे ऐसा होना भी चाहिए था ताकि उनकी उपलब्धियों को सही परिप्रेक्ष्य मे मूल्याकित किया जा सके। ●●

सन्दर्भ सूची

१. अज्ञात : भारतीय रंगमंच का विवेचनात्मक इतिहास, कानपुर पुस्तक संस्थान, १९७८
२. अवस्थी, इन्दुजा : अनु. नाटक साहित्य का अध्ययन, दिल्ली : आत्मा राम एण्ड संस
३. ओझा, दशरथ : नाट्य समीक्षा, दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, संवत् २०१६
४. ओझा, मान्धाता : हिन्दी नाट्य समालोचना, दिल्ली : राजपाल एण्ड संस, १९७६
५. कलसी, भूपेन्द्र : प्रसादोत्तर कालीन नाटक, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, १९७७
६. कुसुम कुमार : हिन्दी नाट्य चिन्तन, दिल्ली : इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, १९७७
७. खन्ना, वेदपाल : हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन, दिल्ली : श्री भारत भारती लिमिटेड
८. गौतम, रमेश : समकालीनता के अतीतोन्मुखी नाटक, दिल्ली : नचिकेता प्रकाशन
९. गुप्त, लाजपतराय : बीसवीं शताब्दी के हिन्दी नाटकों का समाजशास्त्रीय अध्ययन, मेरठ : कल्पना प्रकाशन
१०. गुप्त, सोमनाथ : हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, इलाहाबाद : हिन्दी भवन
११. गौड़, गणेशदत्त, आधुनिक हिन्दी नाटकों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, आगरा : सरस्वती पुस्तक सदन
१२. चातक, गोविन्द : नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर, दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, १९७३

१३ चातक, गोविन्द रगमच कला और दृष्टि, दिल्ली तक्षशिला प्रकाशन
१४ चौहान, रामगोपालसिंह हिन्दी नाटक सिद्धान्त और समीक्षा, दिल्ली प्रभात प्रकाशन, १९५९
१५ जैन, नेमिचन्द्र रगदर्शन, दिल्ली अक्षर प्रकाशन
१६ टिवाना, इन्द्रसिंह जगदीशचन्द्र माथुर व्यक्तित्व और कृतित्व, सहारनपुर लक्ष्मी प्रिंटर्स, १९७२
१७ तनेजा, सत्येन्द्र हिन्दी नाटक पुनर्मूल्याकन
१८ तनेजा जयदेव आज के हिन्दी रगनाटक परिवेश और परिदृश्य, दिल्ली तक्षशिला प्रकाशन, १९८०
१९ दास, कृष्ण हमारी साहित्य परम्परा, प्रयाग साहित्यकार ससद
२० दूबे, चन्द्रूलाल हिन्दी नाटका का रूपविधान और वस्तु विन्यास, दिल्ली दिल्ली पुस्तक सदन
२१ दास, श्यामसुन्दर साहित्यालोचन, प्रयाग इण्डियन प्रेस लिमिटड
२२ नगेन्द्र आधुनिक हिन्दी नाटक, दिल्ली आलेख प्रकाशन
२३ नलिन, जयनाथ हिन्दी नाटककार, दिल्ली आत्माराम एण्ड सस
२४ नारायण, वीरेन्द्र रगकर्म दिल्ली नेशनल पब्लिशिग हाउस
२५ पाण्डेय, शशिभूषण शीताशु नई कहानी क विविध प्रयोग, इलाहाबाद लोकभारती प्रकाशन, १९७४
२६ माली, शिवराम नाटक और रगमच, दिल्ली नेशनल पब्लिशिग हाउस
२७ राय, नरनारायण आधुनिक हिन्दी नाटक एक यात्रा दशक
२८ राय, लक्ष्मीराय आधुनिक हिन्दी नाटक चरित्र सृष्टि के आयाम दिल्ली तक्षशिला प्रकाशन
२९ रघुवश नाट्यकला, दिल्ली नेशनल पब्लिशिग हाउस १९६९
३० राजकुमार नाटक और रगमच वाराणसी हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
३१ लाल, लक्ष्मीनारायण रगमच और नाटक की भूमिका दिल्ली नशनल पब्लिशिग हाउस
३२ वात्स्यायन, सच्चिदानन्द हिन्दी साहित्य—एक आधुनिक परिदृश्य, दिल्ली राधाकृष्ण प्रकाशन
३३ सर्वदानन्द, रगमच, आगरा श्री राम मेहरा एण्ड कम्पनी, १९६५
३४ सारस्वत, गोपालदत्त आधुनिक हिन्दी काव्य मे परम्परा और प्रयोग
३५ सिंह, शम्भूनाथ प्रयोगवाद और नई कविता

३६ सिंह, बच्चन हिन्दी नाटक इलाहाबाद लोकभारती प्रकाशन, १९६७

३७ शर्मा श्रीपति हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव, आगरा विनोद पुस्तक मन्दिर

३८ शुक्ल, रामचन्द्र हिन्दी साहित्य का इतिहास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा

३९ निकोल थ्योरी ऑफ ड्रामा, लदन जोर्ज० जी० हार्प एण्ड कम्पनी लिमिटेड

४० निकोल ए, वर्ल्ड ड्रामा, लदन जोर्ज० जी० हार्प एन्ड कम्पनी लिमिटेड, १९६१

४१ विलियम डब्ल्यू० वी० दि क्राफ्ट ऑफ लिटरेचर, दिल्ली पीक० वी० नैयर पब्लिशिंग हाउस

४२ बैंटले, एरिक दि लाइफ ऑफ ड्रामा, लदन मैथ्यून एण्ड कम्पनी

४३ हडसन, विलियम, हेनरी एन इन्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी ऑफ लिटरेचर, लदन जोर्ज० जी० हार्प एण्ड कम्पनी लिमिटेड १९५४

४४ सात्र चीट इज लिटरेचर, लदन मैथ्यून एण्ड कम्पनी। ●●